णमो समणस्स भगवओ सिरी महावीरस्स

श्रीनमस्कारमहामन्त्र

श्रीमद्विजययतीन्द्रसूरीशशिष्य मुनि

देवेन्द्रविजय ''साहित्य प्रेमी''

नमस्कारसमो मन्त्रः, शत्रुंजयसमो गिरिः।
वीतरागसमो देवो, न भूतो न भविष्यति ।।१।।

जिस प्रकार वैदिक समाज में वैदिक मंत्रों तथा गायत्री मंत्रों का पारसी और ईसाइयों में प्रार्थना का महत्त्व है; उसी प्रकार श्री जैन-शासन में श्री नमस्कार महामंत्र का महत्त्वपूर्ण स्थान माना गया है। धर्मोपासक कोई भी प्राणी हो, फिर वह अवस्था से बाल हो, वृद्ध हो अथवा तरुण हो, सब प्रत्येक समय नमस्कार-महामंत्र का श्रद्धापूर्वक स्मरण करते हैं। जिनेन्द्र -शासन में इस मंत्राधिराज के समान दूसरा कोई मंत्र अथवा विधान नहीं है। आत्मिक साधना हो या व्यावहारिक कार्य हो, व्यापार हो अथवा परदेशगमन हो, मूलबात छोटे-बड़े सब कार्यों में सर्वप्रथम महामंगलकारी श्री आदिमंत्र (नवकार) का ही स्मरण किया जाता है। पूर्वाचार्यों ने जितने भी आश्चर्यजनक कार्य किए हैं, जिन्हें सुनकर हम विस्मित हो जाते हैं। उन सबमें भी नमस्कारमंत्र की आराधना का ही फल सन्निहित है। पंचमांग श्री व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) सूत्र का प्रारम्भ नमस्कारमंत्र से मंगलाचरण करने के पश्चात् ही किया गया है। श्री महानिशीथसूत्र में भी लिखा है :

''ताव न जायइ चित्तेण, चिन्तियं पत्थियं च वायाए।
काएण समाढत्तं, जाव न तरिओ नमुक्कारो ।।''

चित्त से चिंतित, वचन से प्रार्थित और काया से प्रारम्भ कार्य वहीं तक सिद्धि को प्राप्त नहीं होते, जब तक कि नमस्कारमंत्र का स्मरण नहीं किया जाता।

इस प्रकार महानिशीथसूत्र ही नहीं, अपितु अनेक सूत्र-ग्रन्थों तथा पूर्वाचार्यों ने इस चौदह पूर्व के सारभूत नमस्कार महामंत्र की महत्ता दिखलाई है। ऐसे महा-महिमावन्त नमस्कार का उच्चारण करते समय किस पद में कितने और कौन-से अक्षर होना चाहिए? नमस्कार-मंत्र का ही स्मरण क्यों करना चाहिए? यह दिखलाना ही यहाँ हमारा ध्येय है। श्री महानिशीथसूत्र के :

''तहेव च तदत्याणुगिमयं इक्कारस पय परिच्छिन्नं ति आलावगतित्तीखडक्ख परिमाणं 'एसो पंच नमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो, मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ।।१।।' इय चूलं ति अहिज्जंति त्ति'' तत्र प्रकृत् तदेवम्, हवइ मंगलं इत्यस्य साक्षादागमे भणितत्वात् प्रभु श्री वज्रस्वामीप्रभृतिसुवहुश्रुत सुविहितसंविग्नपूर्वाचार्यसम्मतत्वाच्च 'हवइ मंगलं' इति पाठेन अष्टषष्ठ्यक्षरप्रमाण एव नमस्कारः पठनीयः।''

(श्रीअभिधानराजेन्द्रकोश, भाग ४, पृष्ठ १८३६)

इस पाठानुसार अड़सठ अक्षरप्रमाण श्रीनमस्कारमंत्र का स्मरण करना चाहिए, जो इस प्रकार है :

''णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं।

एसो पंच नमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो।
मंगलाणंच सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ।।१।।

इसके अड़सठ अक्षरों की गणना इस प्रकार है :

सत्त पय सत्त-सत्त य नव अट्ठ य अट्ठ नव पहुंति ।
इय पय अक्खरसंखा असहू पूरेई अडसट्ठी ।।

(श्रीअभिधानराजेन्द्रकोश, भाग ४, पृ. १८३६)

प्रथम पद के सात, दूसरे पद के पाँच, तीसरे पद के सात, चौथे पद के सात, पाँचवें पद के नव, छठे पद के आठ, सातवें पद के आठ, आठवें पद के आठ और नवम पद के नौ। इस प्रकार यह पदाक्षर संख्या जोड़ने से (७+५+७+७+९ +८+८+८+९=६८) अड़सठ अक्षर होते हैं। शास्त्रीय-आज्ञानुसार ६८ अक्षरप्रमाण नमस्कार का पठन होना ही चाहिए, इसलिए लिखा है :

''त्रयस्त्रिंशदक्षर प्रमाण चूलिका सहितो नमस्कारो मननीय इत्युक्तं भवति।''

(श्रीअभिधानराजेन्द्रकोश, भा. ४, पृ. १८३६)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् ३३ अक्षरप्रमाण चूलिकासहित नमस्कारमंत्र का स्मरण करना चाहिए। जो लोग ऐसा कहते हैं कि ३५ अक्षर प्रमाण ही नमस्कारमंत्र पठनीय है, उनको उक्त प्रमाण का तात्पर्य समझना चाहिए।

नमस्कार मंत्र का संक्षिप्त अर्थ :

णमो अरिहंताणं : नमस्कार हो अरिहंतों के लिए।
णमो सिद्धाणं : नमस्कार हो सिद्धों के लिए।
णमो आयरियाणं : नमस्कार हो आचार्य महाराज के लिए।
णमो उवज्झायाणं : नमस्कार हो उपाध्यायजी महाराज के लिए।
णमो लोए सव्व साहूणं : नमस्कार हो ढाई द्वीप प्रमाण लोक में विचरने वाले समस्त साधु-मुनिराजों के लिए।
एसो पंच नमुक्कारो : यह पाँचों को किया हुआ नमस्कार।
सव्व पावप्पणासणो : सब पापों का नाश करने वाला है।
मंगलाणं च सव्वेसिं : और सब मंगलों में,
पढमं हवइ मंगलं : प्रथम मंगल है।

किस पद में कौन से अक्षर

नमस्कार-मंत्र के नौ पद और अड़सठ अक्षर हैं। इसके प्रथम पद को तीन प्रकार से लिखा जाता है - णमो अरिहंताणं, णमो अरहंताणं और णमो अरुहंताणं। इनमें से अरहंताणं और अरुहंताणं नहीं, अपितु वास्तुव में "अरिहंताणं" ही लिखना चाहिए। श्रीमहानिशीथसूत्र[१] और श्री भगवतीसूत्र[२] में "अरिहंताणं" ही लिखा है। श्री आवश्यकसूत्र में तथा श्री विशेषावश्यकभाष्य में श्री भद्रबाहु स्वामी और श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने 'अरिहंताणं' इस पद को ही व्याख्या की है।

दूसरा पद "णमो सिद्धाणं" है। यह सर्वत्र एक समान ही लिखा मिलता है। इसमें किसी प्रकार का विकल्प नहीं है।

तीसरा पद "णमो आयरियाणं" है। इस पद को 'आयरियाणं, आयरीयाणं, आइरियाणं और आइरीयाणं' इस प्रकार चार तरह से लिखा जाता है, परन्तु वास्तव में 'आयरियाणं' ही लिखना चाहिए, न कि आयरीयाणं, आइरियाणं या आइरीयाणं। श्री महानिशीथसूत्र के तीसरे अध्याय में और भगवतीसूत्र में 'आयरियाणं' ही आलेखित है।

चौथा पद 'णमो उवज्झायाणं' है। लेखन-दोष के कारण यह पद दो प्रकार से लिखा मिलता है - णमो उवज्झायाणं और णमो उबज्झायाणं। इनमें से प्रथम शुद्ध और दूसरा अशुद्ध है। उच्चारण भी प्रथम पद का ही होता है। न कि दूसरे पद का। महानिशीथसूत्र में तथा भगवतीसूत्र में 'णमो उवज्झायाणं' ही लिखा है।

पाँचवाँ पद 'णमो लोए सव्व साहूणं' है। इस पद को अनेक मनुष्य 'णमो लोये सब्ब साहुणं' ऐसे लिखते तथा बोलते हैं, जो अशुद्ध है। वास्तव में 'णमो लोए सव्व साहूणं' ही लिखना तथा बोलना चाहिए। महानिशीथसूत्र में यही पद प्राप्त है।

इन पाँचों पदों के आदि में णमो आता है, यह भी दो प्रकार से लिखा जाता है - णमो और नमो ये दोनों शुद्ध हैं ; क्योंकि नमो के नकार का 'वाऽऽदौ' ।८।१।२२९। सूत्र के विकल्प से णकार होता है। विकल्प का मतलब है कि एक पक्ष में होता है अथवा नहीं भी होता है, किन्तु नमस्कार मंत्र प्राकृत होने से नमो के स्थान पर णमो लिखना ठीक है।

सिद्धहेमव्याकरण (प्राकृत)

यद्यपि प्राकृत-कल्पलतिका, प्राकृत-प्रकाश, षड्भाषा-चन्द्रिका, प्राकृतमंजरी और प्राकृतलक्षण आदि अनेक प्राकृत-व्याकरणें प्राप्त हैं। तथापि जिस सरलतम प्रकार से कलिकाल-सर्वज्ञ श्रीमद् हेमचन्द्र सूरीश्वरजी महाराज ने श्री सिद्धहेम-शब्दानुशासन के अष्टमाध्याय में विस्तारपूर्वक प्राकृत भाषा के व्याकरण को समझाया है, वैसे अन्य वैयाकारणों ने नहीं। अतः यहाँ जहाँ-जहाँ भी शब्दों की संस्कृत में सिद्धि की गई है, वहाँ-वहाँ श्री सिद्धहेम-प्राकृत-व्याकरण के सूत्रों को ही लिया है। संस्कृतसिद्धि लघुसिद्धान्तकौमुदी (पाणिनीय व्याकरण) के अनुसार की है; क्योंकि मेरा प्रवेश (अध्ययन) पाणिनि-व्याकरण का है।

यहाँ हम क्रमशः अरिहंत सिद्धादि पाँचों पदों का पूर्वाचार्य-सम्मत अर्थ चालू में और पाँचों पदों की प्रक्रिया यथास्थान पादटिप्पणियों में लिख रहे हैं।

अरिहंत का अर्थ :

'अरिहंत'[३] शब्द का अर्थ श्रीभद्रबाहु स्वामी ने आवश्यकनिर्युक्ति में इस प्रकार किया है :

"इन्दिय विसय कसाये, परिसहे वेयणा उवसग्गे।
ए ए अरिणो हंता, अरिहंता तेण उच्चंति ।।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"अट्ठविहं पि य कम्मं, अरिभूयं होइ सव्व जीवाणं ।
तंकम्ममरिहंता, अरिहंता तेण वुच्चंती ।।
अरिहंति वंदण नमंसणाणि अरिहंति पूय सस्कारं ।
सिद्धि गमणं च अरिहा, अरिहंता तेण वुच्चंति ।।
देवासुरमणुए सुय, अरिहा पुया सुरुत्तमा जम्हा ।
आरिणो हंता अरिहंता, अरिहंता तेण वुच्चंति ।।"

अप्रशस्त भावों में रमण करती इन्द्रियों द्वारा काम-भोगों की चाहना को तथा क्रोध, मान, माया और लोभादि कषायों, क्षुधा, तृषादि बाईस परीषहों, शारीरिक और मानसिक वेदनाओँ के उपसर्गो का नाश करने वाले, सब जीवों के शत्रुभूत उत्तर प्रकृतियों सहित ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मों का नाश करने वाले, वन्दन और नमस्कार, पूजा और सत्कार के योग्य हों और सिद्धि (मोक्ष)-गमन के योग्य हों, सुरासुरनरवासवपूजित तथा आभ्यन्तर अरियों को मारने वाले जो हों, वे अरिहंत कहलाते हैं।

श्रीमद् जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण भी विशेषावश्यकभाष्य में लिखते हैं कि :

"रागद्दोस कसाए य, इन्दियाणी पंच वि परिसहे ।
उवसग्गे नामयंता, नमोऽरिहा तेण वुच्चंति ।।"

राग-द्रेष और चार कषाय, पाँचों इन्द्रियाँ तथा परीषहों को झुकाने वाले अर्थात् इनके सामने स्वयं न झुकने वाले, अपितु इन्हें ही झुकाने वाले अरिहंत कहलाते हैं। उनको नमस्कार हो।

"सर्वज्ञो जितरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः ।
यथास्थितार्थवादी च, देवोऽर्हन् परमेश्वरः ।।४।।"

जो सर्वज्ञ हैं, जिन्होंने रागादि दोषों को जीता है, जो त्रैलोक्य पूजित हैं, जो पदार्थ जैसे हैं, उनका यथार्थ विवेचन करते हैं, वे देव "अर्हन्" परमेश्वर कहलाते हैं।

(श्रीमद् हेमचन्द्रसूरि - योगशास्त्र, द्वि. प्र.)

इस प्रकार बहुश्रुत पूर्वाचार्यों ने विविध प्रकार से अरिहंत शब्द का अर्थ अनेक ग्रन्थों में किया है। अरिहंत बनने वाली आत्मा पूर्वभवों में अपने जैसी ही सामान्य आत्मा होती है, परन्तु अरिहंत बनने से पूर्व यों तो अनेक भवों से वे आत्म - साधना में मग्न रहती हैं। तथापि अरिहंत वीतराग बनने से तीसरे पूर्वभव में विंशतिस्थानक महातप की आराधना करके तीर्थंकर नामकर्म निकाचित रूप से बाँधकर देवलोक, ग्रैवेयक अथवा अनुत्तर विमान में मध्यभव करके पुनः मनुष्यलोक में शुभकर्मा माता-पिता के यहाँ जन्म लेकर जिनका सुरासुरेन्द्रों ने च्यवन, जन्म, दीक्षा, कल्याणक-महोत्सव मनाया है, ऐसा चारित्र धर्म अंगीकार करके आत्मा के जो ज्ञानावरणीयादि आभ्यन्तर शत्रु हैं, उनको निजबल-पराक्रम से परास्त करके केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त करके सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, वीतराग बनती हैं, जिन्हें हम अरिहंत, जिन, जिनेन्द्र आदि अनेक गुण-निष्पन्न नामों से पहचानते हैं। ऐसे श्री तीर्थंकर-अरिहंतों के चार मुख्य अतिशय, आठ महाप्रातिहार्य, चौंतीस अतिशय तथा उनकी वाणी के पैंतीस अतिशय होते हैं, जो क्रमशः इस प्रकार हैं :

चार मूल (मुख्य) अतिशय -

१. **ज्ञानातिशय** - अरिहंत भगवान जन्म से ही मतिश्रुत और अवधिज्ञान से युक्त होते हैं। दीक्षा ग्रहण करते ही चौथा मनःपर्याय ज्ञान और घनघाती कर्मो का क्षय होने पर केवल ज्ञान प्राप्त हो जाता है, जिससे विश्व के सब पदार्थों को देखकर, भूत, भविष्य और वर्तमान के समस्त भावों को यथावत् जानना तथा उनका यथार्थ व्याख्यान करना ज्ञानातिशय है।

२. **वचनातिशय** - सुर, मनुष्य, तिर्यंचादि समस्त जीवों के समग्र संशयों को एक साथ दूर करने वाली परम मधुर शांतिप्रद उपादेय तत्त्वों से युक्त ऐसी वाणी, जिसके श्रवण से कर्मों से सन्त्रस्त जीव परम आह्लाद एवं सुख को बिना परिश्रम प्राप्त कर सकते हैं, यानी सब प्रकार से उत्तम तथा जो जिस भाषा का भाषी हो, उसको अपनी उसी भाषा में[४] समझ पड़ जाए, ऐसी जो भगवद् वाणी उसके अतिशय को वचनातिशय कहते हैं।

३. **पूजातिशय** - सुरासुर, नर और उनके स्वामी (इन्द्र राजा) जिन की पूजा करके अपने पाप धोते हैं। वह पूजातिशय है।

४. **अपायापगमातिशय** - श्री अरिहंत भगवान जहाँ-जहाँ विचरण करते हैं, वहाँ-वहाँ से प्रायः सवा सौ[५] योजन तक किसी को किसी प्रकार के कष्ट प्राप्त न हों और जो हों वे भी नष्ट हो जाएँ तथा अतिवृष्टि, अनावृष्टि एवं परचक्र भयादि समस्त उपद्रव दूर होते हैं। वह अपायापगमातिशय है।

आठ प्रातिहार्य -

अशोकवृक्षःसुरपुष्पवृष्टिर्दिव्यध्वनिश्चामरमासनञ्च ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं, सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम् ।।

अशोकवृक्ष देवताओं के द्वारा पञ्चवर्ण सुगंधित फूलों की वर्षा, दिव्यध्वनि, देवों द्वारा चँवरों का ढोना, सिंहासन, भामण्डल, दुन्दुभि और छत्र, ये आठ प्रातिहार्य जिनेश्वरों के होते हैं।

चौतीस अतिशय :

''तेषाम् च देवोऽद्भुतरूपगन्धो निरामयः स्वेदमलोज्झितश्च ।
श्वासोप्यगन्धोरुधिरामिषं तु गोक्षीरधाराधवलंह्यविस्त्रम् ।।५७।।
आहारानीहारविधिस्त्वदृश्यश्चत्वार एतेऽतिशया सहोत्थाः ।
क्षेत्रेस्थितिर्योजनमात्रकेऽपि, नृदेवतिर्यग्जनकोटिकोटेः ।।५८।।
वाणीनृतिर्यक्सुरलोकभाषा, संवादिनी योजनगामिनी च ।
भामण्डलं चारु च मौलिपृष्ठे, विडम्बिताहर्पतिमण्डलश्रि ।।५९।।
साग्रे च गव्यूतिशतद्वये, रुजावैरेतयोमार्यति वृष्ट्य-वृष्टयः ।
दुर्भिक्षमन्यस्वकचक्रतो भयं, स्यान्नैत एकादशकर्म घातजाः ।।६०।।
खेधर्मचक्रचमराः सपादपीठं, मृगेन्द्रासनमष्ट्ज्ज्वलं च ।
छत्रत्रयं रत्नमयध्वजोऽङ्घ्रिन्यासे च चामीकरपङ्कजानि ।।६१।।
वप्रत्रयं चारु चतुर्मुखाङ्गता, चैत्यद्रुमोऽधो वदनाश्वकण्टकाः ।
द्रुमानतिदुन्दुभिनाद उच्चकैर्वातानुकूला शकुनाः प्रदक्षिणाः ।।६२।।
गन्धाम्बुवर्षं बहुवर्णपुष्पवृष्टिः, कचश्मश्रुनखाप्रवृद्धिः ।
चतुर्विधामर्त्यनिकाय कोटिर्जघन्यभावादपि पार्श्वदेशे ।।६३।।
ऋतूनामिन्द्रियार्थानामनुकूल त्वमित्यमी ।
एकोनविंशतिर्दिव्याश्चतुस्त्रिंशच्च मीलिताः ।।६४।।

(श्रीअभिधानचिन्तामणि, देवाधिदेवकाण्ड)

१. लोकोत्तर तथा अद्भुत रूपवाला, मल और स्वेद से रहित शरीर। २. कमलों की सौरभ के समान परम सुगंधवाला, श्वासोच्छ्वास। ३. रक्त और माँस[६] दोनों दूध के समान श्वेत। ४. आहार और नीहार-विधि का चर्मचक्षुवालों को नहीं दिखना। ये चार अतिशय जन्म से ही होते हैं। ५. योजन प्रमाण क्षेत्र में देवों तथा देवेन्द्रों द्वारा रचित समवसरण (व्याख्यानसभा) में असंख्य देवों, मनुष्यों और तिर्यंचों का बिना किसी कष्ट के समावेश हो जाना। ६. मनुष्य, देव तथा तिर्यंच सब को निज-निज भाषा में योजन प्रमाण भूमि में समान रूप से सुखपूर्वक सुनाई देना। ७. मस्तक के पृष्ठभाग में अपने मनोहर सौन्दर्य से सूर्य की शोभा की भी विडम्बना करने वाले भामण्डल का रहना। ८. सवा सौ योजन-प्रमाण क्षेत्र में उपद्रव न होना। ९. समस्त प्रकार की ईतियों का शमन। १०. मारी आदि महाभयंकर रोगों का शमन। ११. अतिवृष्टि न होना। १२. अनावृष्टि न होना। १३. दुर्भिक्ष न होना। १४ स्वचक्र और १५. परचक्र का भय न होना। ये ग्यारह अतिशय घनघाति चार (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और मोहनीय) कर्मों का क्षय होने से होते हैं। १६. आकाश में धर्म का चलन। १७. देवों द्वारा अहर्निश चामरों का ढोना। १८. उज्ज्वल तथा परमशोभा से युक्त पादपीठ सहित सिंहासन का रहना। १९ मस्तक पर छत्रत्रय रहना। २० रत्नमय धर्मध्वज साथ रहना। २१. विहार में चलते समय देवों द्वारा चरणों के नीचे स्वर्ण कमलों की रचना करना। २२. त्रिगढ़ का होना। २३ पद्मवरवेदिका पर विराजित भगवान का चारों दिशाओं में समान रूप से दिखना। २४. अशोक वृक्ष की छाया का निरंतर रहना। २५. काँटों का अधोमुख हो जाना। २६. वृक्षों का ऐसे झुक जाना कि मानो वे भगवान् को नमस्कार करते हों। २७. देवों द्वारा भुवनव्यापी देवदुन्दुभि (वाद्य विशेष) की ध्वनि करना। २८. अनुकूल हवा चलना। २९. पक्षियों द्वारा प्रभु को वन्दन करना। ३०. सुगंधयुक्त जल की वर्षा होना। ३१. बहु-वर्णफूलों की वृष्टि होना। ३३. बाल, दाढ़ी और मूँछ नखादि का वर्धन न होना। ३४ कम से कम करोड़ देवों का सदैव भगवान के साथ रहना। ३४. छहों ऋतुओं का अनुकूल होना। ये (४+११+१९ = ३४) चौतीस अतिशय अरिहंत भगवान के होते हैं। समवायांगसूत्र की ३५वीं समवाय में भी अतिशयों का वर्णन है।

भगवान के चार मूल अतिशयों में से जो वचनातिशय है, वह पैंतीस गुणों से युक्त होता है। वाणी के गुण इस प्रकार हैं -

संस्कारवत्वमौदात्यमुपचारपरीतता ।
मेघगम्भीरघोषत्वं, प्रतिनादविधायिता ।।६५।।
दक्षिणत्वमुपनितरागत्वं च महार्थता ।
अव्याहतत्वं शिष्टत्वं, संशयानामसंभवाः ।।६६।।
निराकृतान्योत्तरत्वं, हृदयङ्गमतापि च ।
मिथः साकांक्षता, प्रस्तावौचित्यं तत्त्वनिष्ठता ।।६७।।
अप्रकीर्णप्रसृतत्वमस्वश्लाघान्यनिन्दिता ।
आभिजात्यमतिस्निग्धमधुरत्वं प्रशस्यता ।।६८।।
अमर्म्मवेधितौदार्य्यं, धर्मार्थप्रतिबद्धता ।
कारकाद्यविपर्य्यासो, विभ्रमादिवियुक्तता ।।६९।।
चित्रकृत्वमद्भुतत्वं, तथानतिविलम्बिता ।
अनेकजातिवैचित्र्यमारोपितविशेषता ।।७०।।
सत्वप्रधानता वर्णपदवाक्यविविक्तता ।
अव्युच्छित्तिरखेदित्वं पंचत्रिंशच्च वाग्गुणा ।।७१।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. संस्कारवत्व - व्याकरणीय नियमों से युक्त (भाषा की दृष्टि से सब प्रकार के दोषों से रहित)। २. औदात्य - उच्च स्वर से उच्चारित। ३. उपचारपरीतता - ग्रामीण दोषों से रहित। ४. मेघगम्भीरघोषत्व - मेघ के जैसे गम्भीर घोषयुक्त। ५. प्रतिनादविधायिता-प्रतिध्वनि से युक्त (चारों ओर दूर तक गुंजित होने वाली)। ६. दक्षिणत्व - सरलतायुक्त। ७. उपनीतरागत्व - मालकोशादि रागों से युक्त अर्थात् संगीत की प्रधानता वाली। ये सात अतिशय शब्द की अपेक्षा से होते हैं। ८. महार्थता - दीर्घार्थ वाली। ९. अव्याहतत्व - पूर्वापर विरोध से रहित (पहले कहा तथा बाद में कहा - उसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं होना)। १०. शिष्टत्व - अभिमत सिद्धांत-प्रतिपादक और वक्ता की शिष्टता की सूचक। ११. संशयानामसम्भवः - जिसके श्रवण से श्रोताजनों का संशय पैदा ही न हो। १२. निराकृतोऽन्योत्तरत्व - किसी भी प्रकार के दोष से रहित (जिस कथन में किसी प्रकार का दूषण न हो और न भगवान् को वही दूसरी बार कहना पड़े)। १३. हृदयंगमता - श्रोता के अंतःकरण को प्रमुदित करने वाली। १४. मिथःसाकांक्षता - पदों और वाक्यों की सापेक्षता से युक्त। १५. प्रस्तावौचित्य-यथावसर देशकाल भाव के अनुकूल। १६. तत्त्वनिष्ठता - तत्त्वों के वास्तविक स्वरूप को धारण करने वाली। १७. अपकीर्णप्रसृतत्व - बहु विस्तार और विषयान्तर दोष से रहित। १८. अस्वश्लाघान्यनिन्दिता - अपनी प्रशंसा और दूसरों क निन्दा इत्यादि दुर्गुणों से रहित १९. आभिजात्य - प्रतिपाद्य विषय के अनुरूप भूमिकानुसारी। २०. अस्तिस्निग्ध-मधुरत्व - घृतादि के समान स्निग्ध और शर्करादि के समान मधुर। २१. प्रशस्यता - प्रशंसा के योग्य। २२. अमर्मवेधिता - दूसरों के मर्म अथवा गोप्य को न प्रकाशित करने वाली। २३. औदार्य - प्रकाशनयोग्य अर्थ को योग्यता से प्रकाशित करने वाली। २४. धर्मार्थप्रतिबद्धता - धर्म और अर्थ से युक्त। २५. कारकाद्यविपर्यास - कारक, काल, लिंग, वचन और क्रिया आदि के दोषों से रहित। २६. विभ्रमादिवियुक्तता - विभ्रम विक्षेप आदि चित्त के दोषों से रहित। २७. चित्रकृत्व - श्रोताजनों में निरंतर आश्चर्य पैदा करने वाली। २८. अद्भुतत्व - अश्रुतपूर्व। २९. अनतिविलम्बिता - अति विलम्ब दोष से रहित। ३०. अनेकजातिवैचित्र्य - नाना प्रकार के पदार्थों का विविध प्रकार से निरूपण करने वाली। ३१. आरोपित विशेषता - अन्य के वचनों की अपेक्षा विशेषता दिखलाने वाली। ३२ सत्वप्रधानता - सत्वप्रधान एवं साहसिकपन से युक्त। ३३. वर्णपदवाक्यविविक्तता - वर्ण, पद, वाक्यों का विवेक (पृथक्-पृथ्क्) करने वाली। ३४. अव्युच्छित्ति-प्रतिपाद्य विषय को अपूर्ण न रखने वाली। ३५. अखेदित्व - किसी भी प्रकार के मानसिक, वाचिक अथवा कायिक खेद से रहित। इस प्रकार भगवान् चार मूलातिशय, आठ प्रातिहार्य, चौंतीस अतिशयों से और पैंतीस वाणी के अतिशयों से युक्त होते हैं।

अरिहंत भगवान् की उक्त लोकोत्तर एवं चित्त को चमत्कृत करने वाली विभूतियों के विषय में हमको यह आशंका हो सकती है कि वीतराग अरिहंत भगवान् इतनी विभूतियों से युक्त थे, ऐसा कैसे मान लिया जाए ? इसका निराकरण है कि हम लोग कर्मावरण से आवरित होने से अपने स्वयं के ही बल-पराक्रम को नहीं समझते हुए ऐसी बातों को सुनकर आश्चर्यान्वित हो चट से कह देते हैं कि ये तो असम्भव है, परन्तु परम योगीन्द्रों में इतनी विभूतियाँ होना असम्भव नहीं है। जिस प्रकार हम विषय-वासना के दास और स्वार्थ में मग्न हैं, वैसे वे नहीं होते। अतः उन्हें विषय-वासना अपनी ओर नहीं खींच सकती। वे मेरु के समान अप्रकम्प्य होते हैं। उनके पास उक्त विभूतियों का होना कोई आश्चर्य नहीं है। वर्तमान युग में भी सामान्य योग-साधना के साधक भी हमको आश्चर्यान्वित करने वाली महिमा वाले होते हैं। तो भला जो आत्मा की सर्वोच्चतम दशा को प्राप्त हो गए हैं, जिनके निकट किसी प्रकार की वासना नहीं है, उनके समीप ऐसी आश्चर्यजन्य विभूतियों का होना कोई असम्भव बात नहीं है।

प्रश्न - ऐसे महिमाशाली अरिहंतों को अरि यानी शत्रुओ को और हंताणं यानी मारने वाले, इस सम्बोधन से क्यों सम्बोधित किया जाता है ? यदि अपने शत्रुओं को मारने वाले को अरिहंत कहा जाता है, तो संसार के सब जीव इस संज्ञा को प्राप्त होंगे और जो डाकू तथा चोर आदि जितने भी अत्याचारी हैं, वे सब के सब भी इस संज्ञा को प्राप्त क्यों नहीं होंगे ? क्योंकि वे भी तो अपने शत्रुओं का ही संहार करते हैं और मित्रों का पालन करते हैं। अतः इस हिसाब से उन्हें भी हमारी समझ से तो अरिहंत इस संज्ञा से ही सम्बोधित करना चाहिए।

उत्तर - धन्यवाद महोदय, आपका एवं आपके सोचने के प्रकार का अभिनन्दन। आपने तो ऐसी बात करके अपनी बुद्धि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का प्रदर्शन ही कर डाला। क्या शत्रुओं का नाश करने वाला अत्याचारी भी अरिहंत संज्ञा को प्राप्त होगा ? पर वास्तव में आपके द्वारा प्रदर्शित यह अर्थ अरिहंत से निकलता ही नहीं है। हमने आगे जो श्रीआवश्यकनिर्युक्ति और श्रीविशेषावश्यक की गाथाएँ उद्धृत की हैं। उनमें स्पष्ट रूप से कहा गया है कि आत्मा के कर्म रूप जो शत्रु उनका अत्यंताभाव करने वाले (पराजय करने वाले) को अरिहंत कहा जाता है। उनको हम नमस्कार करते हैं। कहाँ आम और कहाँ आक ? क्या कभी आक भी आम्र कहलाएगा ? कहाँ सर्वज्ञ सर्वदर्शी वीतराग अरिहंत और कहाँ अत्याचारी आताताई डाकू ? चिंतामणि और पाषाण को एक समान कैसे गिना जा सकता है ? जो लोग इस प्रकार मनचाहा अर्थ लिखकर अपना अभिमत सिद्ध करने के लिए बेकार का भ्रम खड़ा करते हैं वे ज्ञात होता है, ममत्व के झूठे मोह में कर्मों का बंध ही प्राप्त करते हैं। श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी, श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, विद्वद्शिरोमणि श्री हरिभद्रसूरि, वृत्तिकार श्री मलयगिरीजी आदि अनेक पूर्वाचार्यों ने भी अरिहंत का यही अर्थ किया है। क्या वह असत्य है ? नहीं वह असत्य नहीं सत्य है। हम अपने अभिमत की पुष्टि करने के लिए जो कपोलकल्पित अर्थ करते हैं, वह अप्रामाणिक है। जो लोग अरिहंत शब्द का मनमाना अर्थ कर उसमें अपने अवास्तविक तर्कों का क्षेपन करते हैं। उनको पूर्वाचार्यों के शास्त्रों का मनन करना चाहिए। मनन करते समय ममत्व और दृष्टिराग का पटल आँखों से हटा लेना चाहिए, क्योंकि कामराग और स्नेहराग को हटाना तो सरल है, परन्तु दृष्टिराग बड़ी कठिनता से दूर होता है। तभी तो श्रीमद् हेमचन्द्रसूरिजी ने वीतरागस्तोत्र में लिखा है कि –

कामरागस्नेहरागानीषत्करनिवारणौ।
दृष्टिरागस्तु पापीयान्, दुरुच्छेदः सतामपि ।।१०।।

यदि उक्त स्थिति वाले होकर सत्य का अवलोकन किया जाए, तो अवश्य ही सत्य की प्राप्ति हो जाती है।

प्रश्न – अरिहंत, अरुहंत और अरहंत ऐसे तीन पद व्याकरण से 'अर्ह्' धातु से बनते हैं, तो फिर उन तीनों में से यहाँ अरिहंत ही क्यों लिया ? अरहंत और अरुहंत क्यों नहीं लिए ?

उत्तर – अरहंत और अरुहंत इन दो पदों का पाठभेद के रूप में कहीं-कहीं उपयोग हुआ है, परन्तु वह अन्य अर्थों में। न कि इस अर्थ में और नवकार में। महानिशीथसूत्र में अरिहंताणं का ही प्रयोग है, नमस्कार के उपधान के अधिकार में। अरहंत और अरुहंत का अर्थ इस प्रकार है –

'अर्हन्ति देवादिकृतां पूजामित्यर्हन्तः'
अरहंत यानी देवादि द्वारा पूजित।

न रोहति भूयः संसारे समुत्पद्यते इत्यरुः, संसारकारकानां कर्मणां निर्मूलः कर्षितत्वात्। अजन्मनि सिद्धे।

संसार में पुनः जो उत्पन्न नहीं होते हैं, उन्हें अरुह कहते हैं – कर्मों का समूल नाश करने से उनका पुनर्जन्म नहीं होता।

उक्त दोनों पाठों से यह सिद्ध होता है कि अरहंत यानी पूजा के योग्य और जिन्होंने समस्त कर्मों को निर्मूल कर दिया है, वे अरुह यानी सिद्ध हैं। यहाँ जरा ममत्व को छोड़कर सोचो कि जो आत्मा कुछ काल पूर्व हमारे जैसे ही सकर्मा एवं संसारी आत्मा थी। वही पूजा के योग्य कैसे बन गई ? तब हम इसके उत्तर में झट कह देंगे कि – अनादिकाल से आत्मा के साथ जो कर्मों का मैल था, यानी आत्मा के गुणों के घातक जो कर्म थे, उनको सम्यग् क्रियानुष्ठानों द्वारा आत्मा से दूर कर दिया गया, जिससे वे पूजन के योग्य हो जाती हैं। कर्म आत्मा के दुश्मन थोड़े ही हैं, जो उनका हनन किया जाता है ?

क्या हम आत्मा के ज्ञानादि गुणों के घातक कर्मों को घातक नहीं मानते ? जो कह दिया जाता है कि कर्म आत्मा के दुश्मन नहीं है। कैसे नहीं हैं ? शास्त्रकारों ने तो कर्मों को आत्मा के दुश्मन कहा ही है, क्योंकि कर्म आत्मा के ज्ञानादि गुणों को अवतरित जो करते हैं। शास्त्रों में लिखा है कि –

''कम्मरिवु जएण सामाइयं लब्भति''

श्रीआवश्यकसूत्रचूर्णि[७] १:अ.

''कामक्रोधलोभमानमोहाख्ये आन्तरशत्रषट्के''

श्रीसूयगडांगसूत्र[८]।

''रागद्वेष कषायेन्द्रियपरीषहोपसर्गघातिकर्मशत्रून् जितयन्तो जिनः''

श्री जीवाभिगमसूत्र[९], २ प्रतिपत्ति,

निघ्नन्परीषहचमूमुपसर्गान् प्रतिक्षिपन्।
प्रासोऽसि शमसौहित्य, महतां कापि वैदुषी ।।१।।
अरक्तो भुक्तवान्मुक्तिमद्विष्टो हतवान्द्विषः
अहो ? महात्मनां कोऽपि, महिमा लोकदुर्लभः ।।२।।

श्रीवीतरागस्तोत्र ११वाँ प्रकाश।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदि हमारे यहाँ कर्म आत्मा के शत्रु नहीं माने जाते, तो उक्त प्रमाण आते कहाँ से ? इन शत्रुओं को पराजित करने वाली आत्मा को हम अरिहंत कहते हैं। जो आत्मा कभी संसार में उत्पन्न होने वाली नहीं है। जिसने संसार के कारण भूत कर्मों को निर्मूल कर दिया है, वह अजन्मा अर्थात् सिद्ध है। यानी अरुह है। अरुह यह नाम सिद्ध भगवान का होने से अघनघाति चार कर्म शेष हैं जिनके, ऐसे अरिहंत का यह नाम नहीं हो सकता। नाम गुणनिष्पन्न होना चाहिए। अतः इसी नियमानुसार अरिहंतों का अरिहंत यह नाम गुणनिष्पन्न और सार्थक होने से नमस्कार मंत्र के आदि के पद में यही आया है न कि अरहंताणं और अरुहंताणं।

प्रश्न - अरिहंतों की अपेक्षा सिद्ध भगवान् आठों कर्मों पर विजय करके चरम आदर्श को प्राप्त कर चुके हैं। अतः अरिहंतों से पहले सिद्धों को नमस्कार करना चाहिए ? तो फिर अरिहंतों को पहले नमस्कार क्यों किया गया ?

उत्तर - सिद्ध भगवन्तों से पहले अरिहंत भगवान् को नमस्कार करने का मतलब यह है कि - श्रीअरिहंत भगवान् का उपकार सिद्ध भगवान् की अपेक्षा अधिक है। श्रीअरिहंत भगवान् ही हमको सिद्ध भगवान् की पहचान करवाते हैं। सिद्ध भगवान् आठों कर्मों का सर्वथा क्षय करके मोक्ष में (लोकाग्र पर) जाकर विराजमान हो गए हैं और अरिहंत भगवान् सशरीरी अवस्था में विचरण कर धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करते हैं, जिसके द्वारा कर्मों से संतप्त प्राणी वीतराग शासन को प्राप्त कर आत्म कल्याण साधते हैं। अतः सर्वप्रथम अरिहंतों को नमस्कार किया गया है। अरिहंतों को नमस्कार करने के पश्चात् सिद्धों को नमस्कार किया जाना इस रहस्य का द्योतक है कि पहले अरिहंतों को नमस्कार करके वे शेष रहे अघनघाति चार कर्मों (आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय) का क्षय करके जिस अवस्था को प्राप्त होने वाले हैं, उस सिद्धावस्था को नमस्कार किया जाता है।

श्री अरिहंत भगवान् संसारी जीवों के लिए धर्म-सार्थवाह हैं, यानी जिस प्रकार सार्थवाह अपने साथ के लोगों को उनकी आजीविकोपार्जन के लिए समस्त प्रकार की सुविधाएँ जुटा देता है। उसी प्रकार संसार में निज आत्म-साधना से जो च्युत हो गए हैं, उन्हें आत्मसाधना में लगा देते हैं। वे संसार से तिरते हैं और दूसरों को तिराते हैं। अतः उन्हें तिन्नाणं-तारयाणं विशेषण दिया गया है। सिद्ध भगवान् अशरीरी होने से लोकाग्र पर जाकर विराजमान हो गए हैं, अतः वे हमको किसी प्रकार का उपदेश नहीं देते, अतः हम सिद्ध भगवंतों से पहले अरिहंत भगवान् को नमस्कार करते हैं। इसमें सिद्ध भगवन्तों की किसी प्रकार से आशातना भी नहीं होती।

प्रश्न - श्रीअरिहंत भगवान कैसे होते हैं ?

उत्तर - श्रीअरिहंत भगवान ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और मोहनीय इन चार घनघाती कर्मों का नाश करके केवलदर्शन - केवलज्ञान को प्राप्त कर सर्वज्ञ बने हुए। तीर्थ का प्रवर्तन करने वाले, द्वादश गुणों से विराजित, चौंतीस अतिशयवंत। पैंतीस गुणयुक्त वाणी के प्रकाशक, भव्य जीवों को ज्ञानश्रद्धा रूप चक्षु के देने वाले। प्रशस्त मार्ग दिखलाने वाले। स्वयं कर्मों को जीतने वाले और दूसरों को जिताने वाले श्री अरिहंत भगवान होते हैं। श्रीमद्हरिभद्रसूरीशकृत अष्टक प्रकरण की श्रीअभयदेव सूरिकृत टीका के पृ. २ पर लिखा है -

रागोङ्गनासङ्गमनानुमेयो द्वेषोद्विषद्दारण हेतुगम्यः।
मोहः कुवृत्तागम दोषसाध्यो नो यस्य देवः सतुसत्यामर्हन्।।

जिस देव को स्त्री संग से अनुमान करने योग्य राग नहीं है, जिस देव को शत्रु के नाश करने वाले शस्त्र के संग अनुमान करने योग्य द्वेष नहीं है, जिस देव को दुश्चरित्र दोष से अनुमान करने योग्य मोह नहीं है, वह ही सच्चा देव अर्हन् (अरिहंत) है। अर्थात् राग-द्वेष और मोह से जो रहित है, वही देव बनने योग्य है।

श्री अरिहंत भगवान के स्वरूप का विशेष विवरण श्री आवश्यकसूत्र श्रीविशेषावश्यकभाष्य और श्रीवीतरागस्तोत्र आदि से जानना चाहिए।

अरिहंत के नाम -

अर्हन् जिनः पारगतस्त्रिकालविद्
क्षीणाष्टकर्मा परमेष्ठ्यधीश्वरः।।
शम्भुः स्वयम्भूर्भगवान् जगत्प्रभु-
स्तीर्थङ्करस्तीर्थकरो जिनेश्वरः ।।२४।।
स्याद्वाद्यमयदसार्वाः सर्वज्ञः सर्वदर्शि केवलिनौ।
देवाधिदेववोधिद पुरुषोत्तमवीतरागाप्ताः ।।२५।।

अर्हन्, जिन, पारगत, त्रिकालविद्, क्षीणाष्टकर्मा, परमेष्ठि, अधीश्वर, शम्भु, स्वयंभू, भगवान्, जगत्प्रभु, तीर्थंकर, तीर्थकर,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिनेश्वर, स्याद्वादि, अभयद, सार्व, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, केवली, देवाधिदेव, बोधिद, पुरुषोत्तम, वीतराग और आप्त।

ऐसे परम महिमावन्त श्री अरिहंत भगवान की महिमा का गान करते हुए जैनाचार्यवर्य श्रीमद् राजेन्द्र सूरीश्वरजी महाराज ने श्री सिद्धचक्र-पूजा में लिखा है -

तित्थयरं नाम पसिद्धिजायं, णरामरेहिं पणयं हि पायं।
संपुण्णनाणं पयडं विसुद्धं, नमामि सोहं अरिहन्तबुद्धं ।।१।।
(तीर्थंकरनाम्ना प्रसिद्धिं प्राप्तं नरामरैः यस्य प्रणतं हि पादम्।
सम्पूर्णज्ञानयुक्तं विशुद्धं नमामि सोऽहमरिहन्तं बुद्धम्।।)

तीर्थंकर इस नाम से जो प्रसिद्ध को प्राप्त हुए हैं, जिनके चरणकमलों को मनुष्य और देवता प्रणाम करते हैं। जो सम्पूर्ण ज्ञानी हैं, स्वयं विशुद्ध हैं, वे ही अरिहंत बुद्ध हैं। उन्हीं को मैं नमस्कार करता हूँ।

सिद्ध[१०] : -

घ्यातं सितं येन पुराणकर्म यो वा गतो निर्वृत्तिसौधमूर्ध्नि,
ख्यातोनुशास्ता परिनिष्ठितार्थो, यः सोऽस्तु सिद्धः कृतमंगलो मे ।।

जिसने बहुत भवों के परिभ्रमण से बाँधे हुए पुराने कर्म भस्मीभूत किए हैं, जो मुक्ति रूप महल के उच्च भाग पर जा चुके हैं या जो प्रख्यात हैं, शास्ता हैं, कृतकृत्य हैं, वे सिद्ध मुझे मंगलकारी हों।

जिन्होंने संसार-भ्रमण-मूलक समस्त कर्म पराजित कर दिए हैं। जो मोक्ष को प्राप्त हो गए हैं, जिनका पुनर्जन्म नहीं होता, वे सिद्ध कहे गए हैं। ऐसे सिद्ध भगवान नमस्कार मंत्र के द्वितीय पद पर विराजित हैं। श्रीआवश्यकनिर्युक्ति में ग्यारह प्रकार के सिद्ध इस प्रकार गिनाए गये हैं -

कम्म सिप्पे य विज्जाए, मन्ते जोगे य आगमे।
अत्थ जत्ता अभिप्पाए, तवे कम्मक्खए इय ।।

१. कर्मसिद्ध, २. शिल्पसिद्ध, ३. विद्यासिद्ध, ४. मंत्र-सिद्ध, ५. योगसिद्ध, ६. आगमसिद्ध, ७. अर्थसिद्ध, ८. यात्रा - सिद्ध, ९. अभिप्रायसिद्ध, १०. तपसिद्ध और ११ कर्मक्षय-सिद्ध। इन सब सिद्धों में से यहाँ कर्मक्षयसिद्ध ही लिये गये हैं। न कि कर्मसिद्धादि अन्य। सिद्ध भगवान ज्ञानावरणीयादि चार घनघाति और आयु आदि चार अघनघाति कर्मों का सर्वथा क्षय करके सम्पूर्णरूपेण मुक्तात्मा हैं। उनके आठ गुण इस प्रकार हैं -

नाणं च दसणं चिय अव्वाराह तहेव सम्मतं।
अक्खय ठिइ अरुवी अगुरुलहुवीरियं हवइ ।।

१. अनन्तज्ञान : - ज्ञानावरणीय कर्म का सर्वथा क्षय होने पर आत्मा को केवल ज्ञान प्राप्त होता है, जिससे वह संसार के समस्त चराचर पदार्थों को हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष जान सकता है। जो अप्रतिपातिज्ञान भी कहलाता है।

२. अनन्तदर्शन - पाँचों प्रकृतियों सहित दर्शनावरणीय कर्म का क्षय होने पर आत्मा को केवल दर्शन प्राप्त होता है, जिससे वह लोक के समस्त पदार्थों को देख सकता है।

३. अनन्त अव्याबाध सुख - वेदनीय कर्म का सर्वथैव प्रकारेण क्षय होने से आत्मा अनिर्वचनीय अनन्त सुख प्राप्त करती है। उसे अनन्त अव्याबाध सुख कहा जाता है। यानी जो सुख पौद्गलि संयोग से मिलता है, उसको सांयोगिक सुख कहा जाता है। इसमें किसी न किसी प्रकार की विघ्न-परम्परा का आना हो सकता है, किन्तु जो सुख पौद्गलिक संयोग के बिना प्राप्त हुआा है, उसमें कदापि किसी प्रकार के विघ्नों का आना सम्भव ही नहीं होने से वह अनन्त अव्याबाध सुख कहा जाता है।

४. अनन्त चारित्र - दर्शन-मोहनीय और चारित्र-मोहनीय (जो कि आत्मा के तत्त्वश्रद्धान गुण और वीतरागत्व-प्राप्ति में विघ्न रूप हैं) के क्षय होने पर आत्मा अनन्त चारित्र को प्राप्त करती है। उसको अनन्त चारित्र कहते हैं।

५. अक्षय स्थिति - आयुष्य-कर्म की स्थिति का पूर्ण रूप से क्षय होने पर सिद्ध जीवों का जन्म एवं मरण नहीं होने से वे सदा स्वस्थिति में ही रहते हैं। उसे अक्षय स्थिति कहते हैं।

६. अगुरुलघुत्व - गोत्रकर्म का अंत होने पर आत्मा में न गुरुत्व और न लघुत्व ही रहता है। इसलिए उसे अगुरुलघु कहते हैं।

७. अरूपित्व - नामकर्म का अंत होने पर आत्मा सब प्रकार के स्थूल और सूक्ष्म रूपों से मुक्त होकर अरूपित्व प्राप्त करती है। अरूपित्व अतीन्द्रिय यानी इन्द्रियाँ जिसे ग्रहण करने में असमर्थ रहती हैं, ऐसी अग्राह्य वस्तु को अरूपी कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८. अनन्तवीर्य - विघ्न रूप अन्तराय कर्म का क्षय होने से आत्मा अनन्तवीर्य प्राप्त करती है।

इन आठ गुणों से युक्त आत्मा सिद्ध कहलाती है। सिद्धात्माओं का संसार में पुनरागमन नहीं होता, क्योंकि संसार भ्रमण के कारणभूत आठों कर्मों का आत्मा से सर्वथा जुदापन जो हो गया है। वाचकमुख्य श्रीमद् उमास्वातिजी महाराज ने तत्त्वार्थाधिगमसूत्र के स्वोपज्ञभाष्य के अंत में जो करिकाएँ लिखी हैं, उन्हीं में फरमाया है -

दग्धे बीजे यथात्यन्तं, प्रादुर्भवति नांकुरः।
कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवांकुरः ।।

जिस आत्मा ने एक बार कर्ममल से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर लिया है, वह पुनः संसार में कैसे आ सकती है ? जिस प्रकार धान्यकण दग्ध होने पर पुनः वह नहीं उगता, उसी प्रकार कर्मबीज के भस्म होने पर आत्मा भी पुनः उत्पत्ति और नाश को यानी जन्म-मरण को नहीं करती। आवश्यकनिर्युक्ति में सिद्ध भगवान का वर्णन इस प्रकार आया है -

निच्छिन्न सव्व दुक्खा जाइजरामरणबंध विमुक्का।
अव्वाबाहं सुक्खं अणु हवंती सासयं सिद्धा।।

सब दुःखों का नाश करके, जन्म-जरामरण और कर्मबन्ध से मुक्त हुए तथा किसी भी प्रकार की बाधाओं से रहित शाश्वत सुख का अनुभव करने वाले सिद्ध कहलाते हैं।

सिद्धों के नाम -

सिद्धि त्ति य बुद्ध त्ति य, पारगय त्ति य परंपरगय त्ति।
उम्मुक्क कम्म कवया, अजरा अमरा असंगाय ।।

सिद्ध, बुद्ध, पारगत, परम्परागत कर्मविचोन्मुक्त, अजर, अमर और असंगत ये नाम सिद्ध भगवन्तों के हैं। आचार्य :- चरमंश्रुतकेवली श्रीभद्रबाहु स्वामी ने आवश्यक-सूत्रनिर्युक्ति में आचार्य का लक्षण लिखा है -

पंच विहं आयारं, आयरमाणा तहा पभाया संता।
आयारं दंसंता, आयरिया तेण वुच्चन्ति ।।

पाँच प्रकार के आचार का स्वयं पालन करने वाले, प्रयत्नपूर्वक दूसरों के सामने उन आचारों को प्रकाशित करने वाले तथा श्रमणों को उन पाँच प्रकार के आचारों को दिखलाने (उनके पालनार्थ उत्सर्गापवादादि विधिमार्गों के गूढार्थों को प्रयत्नपूर्वक समझाने) वाले 'आचार्य'[११] महाराज कहलाते हैं।

अरिहंत भगवान के द्वारा प्रकाशित तत्त्वों का जनता में कुशलतापूर्वक प्रसार करना, संघ को उनके दिखलाए मार्ग पर चलाना, आत्मसाधक मुनिवरों को सारणा, वारणा, चोयणा व पडिचोयणा द्वारा शिक्षा देना यह कार्य आचार्य महाराज का होता है। आचार्य महाराज स्व-पर सिद्धांतनिपुण समयज्ञ आचारवान् द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के ज्ञाता और प्रकृति से सौम्य होते हैं। सांसारिक प्राणियों के लिए आचार्य महाराज भाव-वैद्य हैं। जिस प्रकार भयंकर से भयंकर रोगों से आक्रांत रोगी कुशल वैद्य से रोग की उपशमनकर्ता औषधि लेकर पथ्यापथ्य का जैसा वैद्य ने कहा, वैसा पालन कर आहार-विहार में सावधानता रखकर थोड़े समय में ही रोग से मुक्त होता है। उसी प्रकार मिथ्यात्व रूप भयंकर रोग से आक्रांत प्राणियों को भाववैद्य आचार्य महाराज सम्यक्त्व रूप औषध, धर्मरूप (जिनवचन रूप) धारोष्ण दूध में मिलाकर देते हैं। राग-द्वेष, क्रोध, मान, माया और लोभ से बचने रूप पथ्य दिखला कर उन्हें कर्म रूप रोग से मुक्त करते-करवाते हैं। कर्मों के आवरण से आवरित सांसारिक प्राणियों को जिन-वीतराग-भाषित तत्त्व रूप दीपक देकर सन्मार्गगामी बनाते हैं। जीवन में जहाँ कटुता, कलह, विकार, ईर्ष्या द्रोहादि घुस कर महानतम अनर्थों का जाल फैलाते हैं, वहाँ आचार्य महाराज इन विचारों के द्वारा उत्पन्न अशान्ति की ज्वाला को वीतरागप्रकाशित तत्त्वौषध देकर शांत करते हैं। ऐसे जिनेन्द्रवचनानुसार चारित्र धर्म के पालक सद्धर्म के निर्भय वक्ता, समयज्ञ एवं स्व-पर समयनिपुण आचार्य को श्री गच्छाचार पयन्ना में तीर्थंकर की उपमा दी गई है -

'तित्थयर समो सूरि, सम्मं जो जिणमयं पयासेइ'

यानी जो आचार्य भली प्रकार से जिनेन्द्रधर्म की प्ररूपणा करता है, वह तीर्थंकर के समान है। महानिशीथसूत्र के पाँचवें अध्ययन में इसी आशय का कथन आया है -

'से भयवं ? किं तित्थयर संतियं आणं नाइक्कमिज्जा उदाहु आयरिय संतियं ? गोयमा ? चउविंहा आयरिया भवन्ति, तं जहा - नामायरिया, ठवणायरिया, दव्वायरिया, भावायरिया तत्थ णं जे ते भावायरिया ते तित्थयर समाचेव दट्ठव्वा, तेसिं संतिय आणं नाइक्कमेज्ज ति'।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हे भगवन् ? तीर्थंकर-सम्बन्धी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता कि आचार्य सम्बन्धी ? गौतम ? नामाचार्य, स्थापनाचार्य, द्रव्याचार्य और भावाचार्य इस प्रकार चार प्रकार के आचार्य कहे गये हैं। उनमें से भावाचार्य तीर्थंकरसमान होने से उनकी आज्ञा का कदापि उल्लंघन नहीं करना।

इस प्रकार आचार्य शासन के आधारस्तम्भ एवं परम माननीय हैं। आचार्य महाराज के छत्तीस गुण शास्त्रों में इस प्रकार आये हैं –

पंचिंदिय - संवरणो, तह नवविह बम्भचेर गुत्तिधरो।
चउविह कसाय मुक्को, इअ अट्ठारस गुणेहिं संजुत्तो ।।१।।
पंच महव्वय जुत्तो, पंचविहायार पालण समत्थो।
पंच समिओ ति गुत्तो, छत्तीस गुणो गुरु मज्झ ।।२।।

पाँचों इन्द्रियों को वश में रखने वाले अर्थात् स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय इन पाँचों को २२ विकारों से संवृत करने वाले, नव प्रकार की ब्रह्मचर्य-गुप्ती के धारक। चारों कषायों से मुक्त। इन अठारह गुणों से युक्त तथा सर्वतः प्राणातिपात-विरमण, सर्वतः मृषावाद-विरमण, सर्वतः अदत्तादान-विरमण, सर्वतः मैथुन-विरमण और सर्वतः परिग्रह -विरमण इन पाँचों महाव्रतों से युक्त पाँच प्रकार के आचारों का पालन करने में समर्थ पाँच समितियों तथा तीन गुप्तियों से युक्त इस प्रकार छत्तीस गुणों के धारक गुरु अर्थात् आचार्य महाराज हमारे गुरु हैं।

१४४४ ग्रन्थ-प्रणेता जैन-शासन-नभोमणि आचार्य-वर्य श्रीमद् हरिभद्र सूरिजी महाराज ने संबोध प्रकरण में आचार्य के ३६ गुणों का वर्णन अनेक प्रकार से तथा गुरुपद का विवेचन भी विस्तारपूर्वक किया है। गच्छाचार पयन्ना में भी आचार्य के अतिशयों तथा योग्यायोग्यत्व पर विस्तृत विवेचन किया है।

प्रश्न - नमो आयरियाणं के स्थान पर नमो आइरियाणं क्यों नहीं बोला जाता है ?

उत्तर - महानिशीथ-सूत्र के तीसरे अध्ययन में, पंचमांग भगवतीसूत्र के मंगलाचरण में, आवश्यकसूत्रनिर्युक्ति और गच्छाचार पयन्ना आदि अनेक आगमग्रन्थों में आयरियाणं ही लिखा है। न कि आइरियाणं। अर्थशुद्धि की दृष्टि से भी आयरियाणं ही लिखना ठीक है।

प्रश्न - आचार्य सर्वज्ञ नहीं हैं, फिर भी उनको 'तित्थयर समो सूरि' कहकर तीर्थंकर की उपमा क्यों दी गई है ? क्या यह अनुचित नहीं है ?

उत्तर - श्रमण भगवान महावीर देव ने श्री गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में जो भावाचार्य को तीर्थंकर के समान कहा है, वह अनुचित नहीं, अपितु उचित है, क्योंकि भावाचार्य आगमज्ञ एवं समयज्ञ होते हैं। प्रत्येक प्रकार की आचरणा का आचरण वे आगमानुसार ही कहते हैं। आगमोक्त वस्तु तत्व को निर्भयतापूर्वक जनता में तर्कयुक्त रीति से प्रकाशित करते हैं। कर्म रोग से आक्रांत जीवों को जिनेन्द्रशरण देकर शुद्ध देव गुरु और धर्म रूप उपास्यत्रयी, सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यग् चरित्र रूप तत्त्वत्रयी का दर्शन कराकर जीवनोत्कर्ष का मार्ग दिखलाते हैं। अतः वे अपने लिए तो तीर्थंकर के समान ही हैं। इसी से उन भावाचार्य महाराज को यह उपमा दी गई है। शेष नामाचार्य, द्रव्याचार्य और स्थापनाचार्य को नहीं। आचार्यवर्य श्रीमद् राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज ने भी नवपदपूजा में लिखा है -

जिणाण आणम्मि मणं हि जस्स णमो णमो सूरि दिवायरस्स।
छत्तीस वग्गेण गुणायरस्स, आयारमग्गं सुपयासयस्स ।।
सूरिवरा तित्थयरा सरीसा, जिणिन्दमग्गं मिणयंति सिस्सा।
सुतत्थ भावाण समं पयासी, ममं मणंसी वसियो णिरासी ।।

(जिनस्य आज्ञायां यस्य मनो वर्तते तस्मै सूरिदिवाकराय नमो नमः
षट्त्रिशद्वर्गेण गुणाकराय आचारमार्गस्य सुप्रकाशकाय -

सूरिवराछः तीर्थंकराः सदृशाः जिनेन्द्रमार्गं वहन्ति शिरसा।
सूत्रार्थ भावानां सममेव प्रकाशकः मम मनसि वसितोऽनिराशी।)

जिन का अन्तःकरण जिनेश्वरों की आज्ञा में रत है। उन आचार्यवर्यों को बार-बार नमस्कार हो जो आचार्य छत्तीस गुणों के धारक हैं। आचारका मार्ग जिन्होंने दिखलाया है । वे आचार्य तीर्थंकर के समान है, जो जिनेन्द्र भगवान के शासन को शिरसा वहन करते हैं। जो सूत्रों के अर्थ को एवं मर्म को जनता के सामने रखते हैं। ऐसे आचार्य महाराज मेरे (हमारे) हृदय में वास करें।

उपाध्याय

श्री भद्रबाहु स्वामी ने आवश्यकनिर्युक्ति में कहा है -

बार संगो जिणक्खाओ, सज्झाओ कहियो बुहेहिं।
तं उवइ सन्ति जम्हा, उवज्झाया तेण वुच्चंति।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्री जिनेश्वर भगवान द्वारा प्ररूपित बारह अंगों (द्वादशांगी) को पण्डित पुरुष स्वाध्याय कहते हैं। उनका उपदेश करने वाले उपाध्याय कहलाते हैं। अर्थात् "उप समीपे अधि वसनात् श्रुतस्यायो लाभो भवति येभ्यस्ते उपाध्याया:" यानी जिनके पास निवास करने से श्रुत (ज्ञान) का आय यानी लाभ हो उन्हें उपाध्याय[१२] कहते हैं।

श्रीश्रमण-संघ में आचार्य महाराज के पश्चात् महत्त्वपूर्ण स्थान श्रीउपाध्यायजी महाराज का होता है। वे संघस्थ मुनियों को द्वादशांगी का मूल से अर्थ से और भावार्थ से ज्ञान करवाते हैं। श्रमणों को आचार-विचार में प्रवीण करते और चरित्र-पालन के समस्त पहलुओं तथा उत्सर्ग-अपवाद का ज्ञान कराते हैं। यौं तो श्रीउपाध्यायजी महाराज साधु होने से साधु के सत्ताईस गुणों के धारक हैं ही, तथापि उनके पच्चीस गुण इस प्रकार दिखलाए गये हैं-

आचारांग, सूत्रकृतांगादि ग्यारह अंग, औपपातिकादि बारह अंग, इन तेईस आगमों के मर्म को जानने वाले तथा उनका विधिपूर्वक मुनिवरों को अध्ययन कराने वाले और चरण-सित्तरी तथा करण-सित्तरी इन पच्चीस गुणों के धारक श्रीउपाध्यायजी महाराज होते हैं। ११ अंग और १२ उपांगों का वर्णन अभिधान राजेन्द्र कोष के प्रथम भाग की प्रस्तावना में आया है । वहीं देखना चाहिये। चरण-सित्तरी और करण-सित्तरी इस प्रकार हैं-

चरण-सित्तरी :-

वय समण संजम वेयावच्चं च बंभगुत्तिओ ।
नाणाइ तियं तब कोहं, निग्गहाइं चरणमेयं ।।

५ महाव्रत, १० प्रकार (क्षमा, मार्दव, आर्जव, निर्लोभता, तप, संयम, सत्य, शौच, अकिंचन और ब्रह्मचर्य) का यतिधर्म, १७ प्रकार का संयम, १० प्रकार का वैयावृत्य, ९ प्रकार का ब्रह्मचर्य, ३ प्रकार का ज्ञान, १२ प्रकार का तप तथा ४ कषाय-निग्रह। इस प्रकार सत्तर भेद चरण-सित्तरी के होते हैं।

करण-सित्तरी :-

पिंडविसोहि समिई, भावय पड़िमाय इन्दिय निरोहो ।
पडिलेहण गुत्तिओ अभिग्गहं चेव करणं तु ।।

४ पिंडविशुद्धि, ५ समिति, १२ भावना, १२ प्रतिमा, ५ इन्द्रियों का निग्रह, २५ पडिलेहण, ३ गुप्ति तथा ४ अभिग्रह । इस प्रकार सत्तर भेद करण-सित्तरी के होते हैं।

चरण-सित्तरी और करण-सित्तरी को श्रीउपाध्यायजी महाराज स्वयं पालते हैं और श्रमण-संघ को पलावाते हुए विचरण करते हैं। कोई श्रमण यदि चरित्र-पालन में शिथिल होता है, तो उसे सारणा, वारणा, चोयणा और पडिचोयणा द्वारा समझा कर पुन: उसे अंगीकृत संयम-धर्मपालन में प्रयत्नशील करते हैं। यदि कोई परसमय का पण्डित किसी प्रकार की चर्चा-वार्ता करने के लिए आता है, तो उसे आप अपने ज्ञान-बल से निरुत्तर करते हैं और स्वसमय के महत्त्व को बढ़ाते हैं। ऐसे अनेक गुणसम्पन्न श्री उपाध्यायजी महाराज के गुणों का स्मरण-वन्दन करते हुए, आचार्यप्रवर श्रीमद्राजेन्द्रसूरिजी महाराज ने श्रीसिद्धिचक्र (नवपद) पूजन में फरमाया है -

सुत्ताण पाठं सुपरंपराओ, जहागयं तं भविणं चिराओ ।
जे साहगा ते उवझाय राया, नमो नमो तस्स पदस्स पाया ।।१।।
गीयत्थता जस्स अवस्स अत्थि, विहार जेसिं सुय वज्जणत्थि ।
उस्सग्गियरेण समग्गभासी, दिंतु सुहं वायगणाण रासी ।।२।।
(सूत्राणां पाठं सुपरंपरात: यथागतं तं भव्यानां निवेदयन्ति ।
ये साधका: ते उपाध्यायराजा: नमो नम: तेषां पद्भ्य: ।।
गीतार्थता यस्यावश्यमस्ति विचारा: येषां श्रुतवर्जिता: न सन्ति ।
उपसर्गापवादाभ्याम् सन्मार्गप्रकाशी ददातु सुखं वाचकगणानां राशि: ।।)

जो परम्परा से आए हुए सूत्रों के अर्थ को यथार्थ रूप से भव्य जनों को कहते हैं। जो साधक हैं, वे उपाध्याय राजा हैं, उन्हीं के चरण-कमलों में बार-बार नमस्कार हो। गीतार्थता जिनके वश में है। जिनके आचार-विचार शास्त्रानुगामी हैं। जो उत्सर्ग और अपवाद को ध्यान में रखकर सन्मार्ग का बोध देते हैं। वे उपाध्याय महाराज हम को सब सुख ।

साधु :-

श्री नमस्कार-मंत्र के पाँचवें पद पर श्रीसाधु महाराज विराजमान हैं। संसार के समस्त प्रपंचों को छोड़कर पापजन्य क्रियाकलापों का त्याग करके, पाँच महाव्रत-पालन रूप वीर प्रतिज्ञा कर समस्त जीवों पर सम भाववृत्ति धारण करने वाले, सब को निजात्मवत् समझ कर किसी को भी किसी प्रकार का कष्ट नहीं हो, इस प्रकार से चलने वाले, मनसा-वाचा-कर्मणा किसी का भी अनिष्ट नहीं चाहने वाले एवं समभाव-साधना में संलग्न, भारंड पक्षी के समान अप्रमत्त दशा में रहने वाले, प्रमाद - स्थानों असमाधि-स्थानों तथा कषायों के आगमन-कारणों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से सर्वथा परे रहने वाले। उनके लिए यदि किसी ने कुछ भी बनाया, तो उसका त्याग करने वाले, चित्त से भी उसकी चाहना नहीं करने वाले, मधुकरी-वृत्ति से भिक्षा ग्रहण करने वाले, छोटी-बड़ी सब स्त्रियों को माँ-बहन समझने वाले, ब्रह्मचर्यव्रत के बाधक समस्त स्थानों का त्याग करने वाले। बाह्याभ्यन्तर परिग्रहों का त्याग करने वाले मुनिराज को साधु अथवा श्रमण कहते हैं। श्रीनमस्कारमंत्र के पाँचवें पद पर ऐसी अनुमोदनीय - वन्दनीय साधुता के धारक बाईस परीषहों को जीतने वाले तथा शास्त्रों के अर्थों के चिंतन-मनन व अध्ययन-अध्यापन में जीवन-यापन करने वाले मुनिराज को नमस्कार किया गया है। अन्तिम श्रुतकेवली भगवान् श्री भद्रबाहु स्वामी ने आवश्यकनिर्युक्ति में लिखा है -

निव्वाण साहए जोगे, जम्हा साहन्ति साहुणो ।
समा य सव्व भूयेसु, तम्हा वे भाव साहुणो ।।

निर्वाण-साधक योगों की क्रियाओं को जो साधते हैं और सब प्राणियों पर समभाव धारण करते हैं, वे भावसाधु हैं।[१३]

दशाश्रुतस्कन्धसूत्र में साधु का व्युत्पत्यर्थ तीन प्रकार से किया गया है -

"साधयति ज्ञानादिशक्तिभिर्मोक्षमिति साधुः"
"समतां च सर्वभूते ध्यायतीति निरुक्तन्यायात् साधुः"
"सहायको वा संयमकारिणं साधयतीति साधुः"

जो ज्ञान, दर्शन इत्यादि शक्तियों से मोक्ष की साधना करते हैं या सब प्राणियों के विषय में समता का चिंतन करते हैं अथवा संयम पालने वाले के सहायक होते हैं, वे साधु हैं।

ऐसी अनुमोदनीय एवं स्तुत्य साधुता के धारक मुनिवरों के सत्ताईस गुण होते हैं, जो इस प्रकार हैं - सर्वतः प्राणातिपात विरमणादि पाँच महाव्रत और रात्रिभोजन-विरमण व्रत ६, पृथ्वीकायादि षट्काय के संरक्षण ६, इन्द्रियनिग्रह ५, भावविशुद्धि १, कषायनिग्रह ४, अकुशल मन, वचन और काया का निरोध ३, परीषहों का सहन १ और उपसर्गों में समता १ ये २७ गुण अथवा बाह्याभ्यन्तर तप १२, निर्दोष आहार-ग्रहण १, अतिक्रमादि दोष-त्याग ४, द्रव्यादि अभिग्रह ४ और व्रत ६ आदि २७ गुण हैं।

भावदया जिन के हृद्पद्म में विराजमान है, ऐसे साधु मुनिराज नित्य आत्म-साधना करते हुए 'कर्म से संत्रस्त जीव किस प्रकार से बचें ?' इस उपाय को सोचते हुए क्रोध, मान, माया और लोभ राग-द्वेषादि आभ्यन्तर शत्रुओं को परास्त करने के कार्य में लगे, भूमंडल पर विचरण कर संसारी जीवों को सन्मार्गारूढ़ कर मोक्षनगर जाने के लिए धर्म रूप मार्ग का पाथेय देने वाले, पापाश्रमों का त्याग करने वाले, अंगीकृत महाव्रतों का निर्दोषतापूर्वक पालन करने वाले मुनिराज की आदरणीय एवं प्रशंसनीय साधुवृत्ति को नमस्कार करते हुए श्रीमद् मुनिसुन्दर सूरीश्वरजी महाराज ने श्री आध्यात्म-कल्पद्रुम में लिखा है -

ये तीर्णा भववारिधिं मुनिवरास्तेभ्यो नमस्कुर्महे ।
येषां नो विषयेषु गृध्यति मनो नो वा कषायैः युतम् ।।
राग-द्वेषविमुक्प्रशान्तकलुषं साम्याप्तशर्माद्वयं ।
नित्यं खेलति चात्मसंयमगुणा क्रीडे भजद्भावना ।।१।।

जिन महामुनिवरों का मन इन्द्रियों के विषयों में आसक्त नहीं होता, कषायों से व्याप्त नहीं होता, जो राग-द्वेष से मुक्त रहते हैं, पाप-कर्मों (व्यापारों) का त्याग किया है जिन्होंने। समता द्वारा अखिलानन्द प्राप्त किया है, जिन्होंने और जिनका मन आत्मसंयम रूप उद्यान में खेलता है। संसार से तिर जाने वाले ऐसे मुनिराजों को हम नमस्कार करते हैं। श्रीमद् राजेन्द्रसूरिजी महाराज भी श्रीनवपद-पूजा में लिखते हैं -

संसार छंडी दृढ मुक्ति मंडी, कुपक्ष मोडी भव पास तोडी ।
निग्गंथ भावे जसु चित्त आत्थि, णमो भवि ते साहु जणत्थि ।।१।।
जे साहगा मुक्ख पहे दमीणं, णमो णमो हो भविते मुणिणं ।
मोहे नही जेह पडंति धीरा, मुणिण मज्झे गुणवंत वीरा ।।२।।

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है कि नमस्कार-मंत्र में दो विभाग हैं, नमस्कार और नमस्कार-चूलिका। 'नमो लोए सव्व साहूणं' यहाँ तक के पदों से पञ्चपरमेष्ठी को अलग-अलग नमस्कार किया गया है। "एसो पञ्च (पंच) नमुक्कारो सव्व पावप्पणासणो, मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं" यह चूलिका नमस्कार फल दर्शक है। जो नमस्कार-मंत्र के आदि के पाँच पदों के साथ नित्य स्मरणीय है। कुछ लोग कहते हैं कि चूलिका नित्य पठनीय नहीं, अपितु जानने योग्य है, परन्तु उनका यह कथन तत्थ्यांशहीन है। शास्त्राकारों की आज्ञा है कि -

'त्रयस्त्रिंशदक्षरप्रमाणचूलासहितो नमस्कारो भणनीयः'
(अभिधानराजेन्द्रकोश, भा. ४, पृष्ठ १८३६)

अतः पैंतीस अक्षरप्रमाण मंत्र और तेंतीस अक्षर चूला दोनों को मिलाकर अड़सठ अक्षरप्रमाण श्री नमस्कार-मंत्र का स्मरण करना चाहिए, न्यूनाधिक पढ़ना दोषमूलक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रश्न - नमस्कारमंत्र में अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु यह नमस्कार का क्रम क्यों रखा गया है ?

उत्तर - श्री अरिहंत भगवान को सर्वप्रथम नमस्कार इसलिए किया जाता है कि वे हमारे सर्वश्रेष्ठ उपकारक हैं। श्रीसिद्ध भगवन्तों की अपेक्षा अरिहंत भगवन्तों का उपकार निकट का जो है, क्योंकि श्री अरिहंत भगवान् तीर्थ के प्रवर्तक होते हैं। तीर्थ के द्वारा धर्ममार्ग की प्रवृत्ति होती है। अत: तीर्थ के निर्माता सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान् वीतराग श्री अरिहंत को ही सर्वप्रथम नमस्कार किया जाता है। अरिहंत भगवान् ही हमको सिद्ध भगवन्तों की स्थिति आदि समझाते हैं और उनके द्वारा ही हम सिद्ध भगवान को जानते हैं। अत: सर्वप्रथम नमस्कार अरिहंत भगवान को किया जाता है, जो योग्य ही है।

दूसरा नमस्कार जो आठों कर्मों का सर्वथा क्षय करके लोकाग्र पर विराजमान हो गए हैं, उन श्रीसिद्ध भगवन्तों को किया जाता है। जिसका तात्पर्य है कि - अरिहंतों को नमस्कार करने के पश्चात् वे (अरिहंत) चार अघनघाती कर्मों का क्षय करके जिस सिद्धावस्था को प्राप्त होने वाले हैं उसे दूसरा नमस्कार किया जाता है। यद्यपि कर्मक्षय की अपेक्षा से श्री सिद्ध भगवान अरिहंतों की अपेक्षा अधिक महत्तावन्त हैं, तथापि व्यावहारिक दृष्टि से सिद्धों की अपेक्षा अरिहंत गिने जाते हैं, क्योंकि परोक्ष श्रीसिद्ध भगवान का ज्ञान अरिहंत ही करवाते हैं। अत: व्यावहारिक दृष्टि को ध्यान में रखकर ही प्रथम नमकार अरिहंत को और दूसरा नमस्कार सिद्धों को किया जाता है।

तीसरा नमस्कार छत्तीस गुणों के धारक प्रकृतिसौम्य भाव -वैद्य भावाचार्य भगवान् आचार्य महाराज को किया गया है। जिसका रहस्य है कि - श्री अरिहंतों के द्वारा प्रवर्तित धर्ममार्ग का, तत्त्वमार्ग का, जीवनोत्कर्षमार्ग का एवं आचारमार्ग का यथार्थ प्रकार से जनता में प्रकाशन कर स्वयं आत्मसाधना में लगे रहते हैं और दूसरों को बोध देकर आत्मसाधना में लगाते हैं। तीर्थ का रक्षण करते हैं, करवाते हैं। श्रीसंघ की यथा प्रकार से उन्नति का मार्ग प्रदर्शित करते हैं। साधना से विचलित साधकों को साधना की उपादेयता समझाकर संयम-मार्ग में प्रवृत्त करते हैं। ऐसे महदुपकारी शासन के आधारस्तम्भ मुनिजन मानससरहंस आचार्य महाराज को इसलिए तीसरा नमस्कार किया गया है।

चौथा नमस्कार श्री उपाध्यायजी महाराज को किया गया है। इसका मतलब है कि - तीर्थ के निर्माता श्री अरिहंत भगवान् के द्वारा उच्चारित तथा गणधर भगवन्तों के द्वारा सूत्र रूप में ग्रथित श्रुत का योगोद्वहनपूर्वक और परमकारुणिक श्री पूर्वाचार्यवयों से सम्बद्ध शास्त्रों का स्वयं अध्ययन करके संघस्थ छोटे-बड़े मुनियों को, जो जिसके योग्य है, उसे उसी का अभ्यास करवा कर स्वाध्यायध्यान का प्रशस्त मार्ग बताने वाले चारित्र-पालन की विधियों-प्रकारों के दर्शक श्री उपाध्यायजी महाराज होते हैं। आगमों का रहस्य जिन्होंने पाया है ऐसे श्री उपाध्यायजी महाराज को चौथा नमस्कार किया गया है।

पाँचवाँ नमस्कार साधु महाराज को किया गया है, जिसका हेतु यह है कि-आचार्य और उपाध्याय महाराज से सर्वज्ञ सर्वदर्शी वीतराग भगवान् श्री अरिहंत देव द्वारा प्ररूपित धर्ममार्ग का श्रवण करके उसे आत्महितकर जान कर अंगीकार करके चारित्र-धर्म के प्रतिपालन में दत्तचित्त मुनिराजों को नमस्कार करके हम (नमस्कारकर्ता), भी समता को प्राप्त कर, ममता को त्याग कर, कर्मों के ताप से आत्मा को शांत कर सकें, इसीलिए पाँचवें पद से साधु-मुनिराजों को नमस्कार किया गया है।

प्रश्न - इन पाँचों को नमस्कार करने से क्या लाभ होता है ?

उत्तर - पञ्च परमेष्ठी को नमस्कार करने से हम को सम्यग्दर्शन - ज्ञान और चारित्र का लाभ होता है तथा वीतराग और वीतरागोपासक श्रमणवरों की वन्दना करने से हम भी वीतरागदशा प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं। जब हमारी भावना वीतरागोपासना की ओर प्रवाहित होती है, तब हम अच्छे और खराब का विवेक प्राप्त करके आस्रवद्वारों का अवरोध करके संवर और निर्जरा भावना को प्राप्त करके, आत्म-साधना में प्रवृत्त होते हैं तथा अन्त में ईप्सित की प्राप्ति भी कर सकने में समर्थ हो जाते हैं। यह लोकोत्तर लाभ हमको सकलागमरहस्यभूत श्रीनमस्कारमंत्र का स्मरण करने से प्राप्त होता है। तैंतीस अक्षर-प्रमाण नमस्कार-चूलिका में यही तो दिखलाया गया है।

प्रश्न - "नमोऽर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्य:" और "अ-सि-आ-उ-सा-य नम:" ये मंत्र क्या हैं ?

उत्तर - तार्किक-शिरोमणि आचार्यप्रवर श्री सिद्धसेन दिवाकरसूरिजी महाराज द्वारा किया गया नमस्कार-मंत्र का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संक्षिप्तीकरण "नमोऽर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्य:" है और अ-सि-आ-उ-सा-य नम:" यह मंत्र अरिहंत का 'अ सिद्ध' की 'सि' आचार्य का 'आ' उपाध्याय का 'उ' साधु का 'सा' ये सब मिलकर 'असि-आ-उ-सा-य नम:' यह अत्यन्त संक्षिप्त स्वरूप भी नमस्कारमंत्र का ही है। जो आदरणीय एवं स्मरणीय है। कितने ही लोग ऐसे होते हैं कि जिन्हें "कौड़ी की कमाई नहीं और क्षण मात्र का समय नहीं" उनके लिए थोड़ा समय लगने वाले पद स्मरणीय हैं। जिन्हें समय बहुत मिलता है, परन्तु वे आलस्य के कारण ऐसे लघु मंत्रों का स्मरण करते हैं। उन्हें तो प्रमाद को छोड़कर मूल मंत्र का ही स्मरण करना चाहिए।

प्रश्न - श्री नमस्कार-मंत्र का जाप किस प्रकार से करना चाहिए ?

उत्तर - कलिकाल-सर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्रसूरीश्वरजी महाराज ने योगशास्त्र में श्रीनमस्कारमंत्र के जाप का विधान विस्तारपूर्वक बतलाया है। अत: इस विषय के लिए योगशास्त्र के आठवें प्रकाश का ही अवलोकन करना चाहिए। श्रीमद् पादलिप्तसूरिजी ने श्री निर्वाणकलिका में जाप के भाष्य, उपांशु और मानस, ये तीनों प्रकार दिखलाये हैं। जो इस प्रकार हैं - नमस्कार स्मरण करने वालों से अन्य लोग भली प्रकार से सुन सकें, वैसे स्पष्ट उच्चारणपूर्वक, जो जाप होता है, उसे 'भाष्य'[१४] जाप कहते हैं।

भाष्य जाप की सिद्धि हो जाने पर स्मरण करने वाला कण्ठगता वाणी से; दूसरे लोग सुन तो न सकें परन्तु उनको यह ज्ञात हो जाय कि जापकर्त्ता जाप कर रहा है; जो जाप करता है उसे उपांशजाप१५ कहते हैं।

उपांशुजाप की सिद्धि हो जाने पर जाप करने वाला स्वयं ही अनुभव करता है परन्तु दूसरों को ज्ञात नहीं हो सकता, उस जाप को 'मानस[१६]' जाप कहते हैं।

इस प्रकार भाष्य, उपांशु और मानस जाप करने वालों में कोई सम्पूर्ण नवकार का और कोई अ-सि-आ-सा-उ -य नम: का तो कोई नमोऽर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्य: का तो कोई ॐ अर्हन्नम: इस अत्यन्त संक्षिप्त परमेष्ठी-मंत्र का स्मरण करते हैं।

ॐ अर्हन्नम: मंत्र में पंच परमेष्ठि का समावेश इस प्रकार होता है -

अरिहंता असरीरा आयरिया उवज्झाया तहा मुणिणो ।
पढक्खर निप्फण्णो ॐकारो पंच परमिट्ठी ।।

अरिहंत का अ, अशरीरी सिद्ध का अ, आचार्य का आ, उपाध्याय का उ और मुनि का म इन सबको परस्पर मिलाने से ॐकार निष्पन्न होता है, जो पंच परमेष्ठी का वाचक है - अ + अ = आ, आ + आ = आ, आ + उ = ओ, ओ + म् = ओम् (ॐ) इस प्रकार ॐ पंच परमेष्ठी का वाचक है ही और अर्हम् की भी महिमा अपरम्पार है। श्रीहेमचन्द्रसूरिजी म. ने सिद्धहेमशब्दानुशासन की वृहद् वृत्ति में लिखा है -

"अर्हमित्येतदक्षरं परमेश्वरस्य परमेष्ठिनो वाचकं सिद्धचक्रस्यादिबीजं सकलागमोपनिषद्भूतमशेषविघ्न विघातनिघ्नमखिलदृष्टादृष्ट संकल्पकल्पद्रुमोपमं, शास्त्राध्ययनाध्यापनावधिप्रणिधयम्।"

'अर्हम्' ये अक्षर परमेश्वर परमेष्ठी के वाचक हैं। सिद्धचक्र के आदि बीज हैं। सकलागमों के रहस्यभूत हैं, सब विघ्न - समूहों का नाश करने वाले हैं। सब दृष्ट यानी राज्यादि सुख और अदृष्ट यानी संकल्पित अपवर्ग-सुख का अभिलषित फल देने में कल्पद्रुम के समान हैं। शास्त्रों के अध्ययन और अध्यापन के आदि में इसका प्राणिधान करना चाहिए। अर्हत् का महत्व दिखलाते हुए आचार्यश्री ने योगशास्त्र में भी फरमाया है -

अकारादिहकारान्तं, रेफमध्यं सविन्दुकम् ।
तदेव परमं तत्त्वं, यो जानाति सतत्त्व वित् ।।
महातत्त्वमिदं योगी, यदैव ध्यायति स्थिरः ।
तदैवानन्दसंपद्मूमुक्तिश्रीरुपतिष्ठते ।।

जिसके आदि में अकार है। जिसके अंत में हकार है। बिन्दु सहित रेफ जिसके मध्य में है। ऐसा अर्हम् मंत्र-पद है। वही परम तत्त्व है। उसको जो जानता है - समझता है, वही तत्त्वज्ञ है। जब योगी स्थिरचित्त होकर इस महातत्त्व का ध्यान करता है, तब पूर्ण आनन्दस्वरूप उत्पत्तिस्थान रूप मोक्ष - विभूति उसके आगे आकर प्राप्त होती है।

वाचकप्रवर श्रीमद्यशोविजयजी भी फरमाते हैं -
अर्हमित्यक्षरं यस्य चित्ते स्फुरति सर्वदा ।
परं ब्रह्म ततः शब्दब्राह्मणः सोऽधिगच्छति ।।२७।।
परः सहस्त्राः शरदां, परे योगमुपासताम् ।
हन्तार्हन्तमनासेव्य, गन्तारो न परं पदम् ।।२८।।
आत्मायमर्हतो ध्यानात् परमात्मत्वमश्नुते ।
रसविद्धं यथाताम्रं स्वर्णत्वमधिगच्छति ।।२९।।

(द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्हम् पद के अक्षर जिसके चित्त में हमेशा स्फुरायमान रहते हैं। वह इस शब्दब्रह्म से परब्रह्म (मोक्ष) की प्राप्ति कर सकता है। हजारों वर्षों पर्यन्त योग की उपासना करने वाले इतर जन वास्तव में अरिहंत की सेवा लिए बिना परम पद की प्राप्ति नहीं कर सकते। जिस प्रकार रस से लिप्त ताँबा सोना बनता है। उसी प्रकार अरिहंत के ध्यान से अपनी आत्मा परमात्मा बनती है।

कितने ही लोग 'नमो अरिहंताणं' यह सप्ताक्षरी मंत्र और कितने ही लोग अरिहंत, सिद्ध, आयरिय उवज्झाय साहू' इस षोडशाक्षरी मंत्र का स्मरण करते हैं। सप्ताक्षरी (नमो अरिहंताणं) के लिए योगशास्त्र के आठवें प्रकाश में लिखा है -

यदीच्छेद् भवदावाग्नेः समुच्छेदं क्षमादपि ।
स्मरेत्तदादिमंत्रस्य वर्णसप्तकमादिमम् ।।

यदि संसार रूप दावानल का क्षण मात्र में उच्छेद करने की इच्छा हो, तो आदि मंत्र (नमस्कार) के आदि के सात अक्षर (नमो अरिहंताणं) का स्मरण करना चाहिए।

षोडशाक्षरी मंत्र की महत्ता के विषय में कहा गया है -

यदुच्चारणमात्रेण, पापसंघः प्रलीयते ।
आत्मादेयः शिरोदेयः न देयः षोडशाक्षरी ।।

शरीर का नाश कर देना, मस्तक दे देना, परन्तु जिसके उच्चारण मात्र से ही पापों का संघ (समूह) नष्ट हो जाता है, ऐसा षोडशाक्षरी मंत्र किसी को भी नहीं देना चाहिए।

इस प्रकार के महामहिमाशाली सकल श्रुतागम-रहस्यभूत श्रीमंत्राधिराज महामंत्र नमस्कार को प्राप्त करके भी नाम तो जैन रखते हैं और अत्यंत लाभप्रदाता मंत्र को छोड़कर अन्य मंत्रों के लिए इधर-उधर भटकते देखे जाते हैं। मंत्रों के लोभ से लुब्ध होकर भटकने वाले इज्जत, धन एवं धर्म तक से हाथ धोते देखे गए हैं। सब ओर से लुट जाने के पश्चात् वे मंत्रेच्छु साधुओं के पास उनसे मंत्र प्राप्त कर बिना मेहनत के श्रीमंत बनने की इच्छा से आते हैं। उनकी सेवासुश्रूषा करते हैं। अकारण दयावान् वे मुनिराज उन्हें महामंगलकारी श्रीनवकार मंत्र देते हैं। तो वे कहते हैं- महाराज ? इसमें क्या धरा है। यह तो हमारे नन्हे-मुन्ने बच्चों को भी आता है। इसका स्मरण करके कितने ही वर्ष पूरे हो गए, परन्तु कुछ भी नहीं मिला कृपा कर के अन्य देवी-देवता की आराधना बतलाइए, जिसके साधन-स्मरण से मेरी सभी चाहनाएँ पूर्ण हो जाएँ। मुनिराज बहुत समझाते हैं, परन्तु वे नहीं समझते। वे मंत्रों के लोभ से लुब्ध मुग्ध जीव यह नहीं जानते कि क्या ये देवी-देवता हमारे पूर्वकृत कर्मों को मिटा सकने में समर्थ हैं ? वे भी तो कर्मपाश में बँधे हैं। स्वयं बँधा हुआ दूसरे को बंधनों से कैसे छुड़ा सकता है ? देवी-देवता हमको धन-पुत्र कलत्रादि देकर सुखी कर देंगे। उनकी प्रसन्नता से हमारा सारा का सारा कार्य चुटकी बजाते ही हो जाएगा। इस भ्रांत धारणा ने हमको पुरुषार्थहीन बना दिया है। जरा-सा दुःख आया अरिहंत याद नहीं आते, अपितु ये सकामी देवी-देवता याद आते हैं। मुझे आश्चर्य तो तब होता है जब ऐसे लोग चिकित्सकों के औषधोपचार से रोगमुक्त होते हैं तथा अकस्मात् कहीं या किसी ओर से कुछ लाभ होता है, तो चट से ऐसा कहे जाते सुनता हूँ, - "मैंने अमुक देव की या देवी की मानता ली थी, उन्होंने कृपा करके मुझे रोग से मुक्त कर दिया, मेरा यह काम सफल कर दिया। यदि उन की कृपा नहीं होती, तो मैं रोग से मर जाता। मेरा यह काम सफल नहीं होता। अब उनके स्थान पर जायेंगे, उन्हें तेल-सिन्दूर चढ़ायेंगे, जुहार करेंगे। अब की बार पूजा अच्छी तरह करेंगे, तो फिर कभी वे हमारा काम झट कर देंगे या प्रार्थना करने पर स्वप्न में आकर फीचर का अंक बता देंगे, तो हम लखपति हो जायेंगे।" ऐसे भ्रामक एवं वृथाप्रलाप को सुनकर मैं सोचता हूँ, 'हा ? क्या अज्ञान की लीला है। इन भ्रांत धारणाओं के बर्तुल में फँस कर हम अपने जीवन को कलंकित करते हैं। प्राप्त धन एवं शक्ति का अपव्यय करते हैं। आत्म-साधना से भी वंचित रहते हैं। वीतराग को अपना आराध्य मानने वालों एवं सुदेव, सुगुरु और सुधर्म को मानने वालों की यह विचारधारा! आश्चर्य ? महदाश्चर्य ??'

हम मंत्रों के लिए तथाकथित मंत्रवादियों से प्रार्थना करने से पहले उन मंत्रवादियों के जीवन का अवलोकन करेंगे, तो उनका जीवन इन भ्रामक ढकोसलों से पपतित हुआ ही दिखेगा। वे उदर-पोषण के लिए कष्टपूर्वक अन्न जुटाते होंगे। पाँच-दस रुपयों में भक्तों को मंत्र-यंत्र देने वाले वे भक्तों के शत्रुओं को परास्त करने की वृथा डींग हाँकते हैं। भक्तों को धनधान्य से प्रमुदित करने वाले वे क्यों पाँच-दस रुपयों के मूल्य में मंत्र बेचते हैं ? उन्हें क्या आवश्यकता है, पाँच-दस की ? क्यों न वे मंत्रों के बल से आकाश से सोना बरसाते हैं ? क्यों वे रोगों से आक्रांत होते हैं ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उक्त प्रश्नों के उचित एवं संतोषप्रद उत्तर मंत्रवादियों के पास नहीं है। यदि हम ही स्वयमेव इन प्रश्नों का समाधान प्राप्त करने की प्रवृत्ति करते हैं तो हमको चिन्तन का नवनीत यही मिलेगा कि जो बल, जो श्रद्धा, जो सामर्थ्य हमारी भावना में है, वह किसी में भी नहीं। हम सोचते रहे जगभर की बुराई तो हमारी भलाई होगी कैसे ? समुद्र के विशालकाय मत्स्यों की भोंहों में या कानों पर चावलों के दाने जितनी काया वाला तन्दुल नाम का अति छोटा मत्स्य होता है। वह अपने नन्हे से जीवन में रत्तीभर माँस नहीं खाता और न खून की एक बूँद पीता है। वह किसी को किसी प्रकार का दु:ख भी नहीं देता, परन्तु उन विशालकाय मत्स्यों की भोंहों पर बैठा, वह हिंस्र विचारों मात्र से ही नरक जैसा महाभयंकर यातना-स्थान प्राप्त हो, वैसा बंध प्राप्त करता है और अन्तर्मुहूर्त का जीवन समाप्त कर उस स्थान को प्राप्त भी हो जाता है। हमारे शास्त्रकारों ने तभी तो उद्घोषणा की है कि - "अप्पा कत्ता विकत्ता य" यानी आत्मा ही कर्त्ता है और आत्मा ही भोक्ता है और "यादृशी भावना यस्य, सिद्धिर्भवति तादृशी"। अपने ही हाथों ही अपने पैर को काटकर सोचना कि पीड़ा का अनुभव कोई अन्य करे, यह कैसे सम्भव हो सकता है ? जिसने जैसे कर्म किए हैं, उसको तदनुसार ही फल प्राप्त होता है।

खेद का विषय है कि हम शास्त्रों और शास्त्रकारों द्वारा निर्दिष्ट मार्ग को छोड़कर जिस प्रकार पागल वास्तविक को छोड़कर अवास्तविक की ओर जाता है, वैसे ही उन्मार्गगामी होते जा रहे हैं, किन्तु याद रखो असली हीरा देखने में भले भद्दा हो और काँच का टुकड़ा देखने में सुन्दर हो, किन्तु मूल्य तो हीरे का ही होगा काँच का नहीं। परन्तु! शास्त्रकारों के कथन में हमको विश्वास नहीं और न श्रद्धा ही है। हमको तो चाहिए मात्र धन और धन। सदैव इस विचारणा में रहकर जीवन नष्ट कर दिया। भले लोग समझाते हैं, किन्तु अक्ल नहीं आती। आये कहाँ से धन संचय का भूत जो सवार है।

इस प्रकार के मांत्रिक और मंत्रेच्छुओं को सोचना चाहिए कि - "हमने किसी महत्पुण्योदय से यह मनुष्यावतार पाया, जिनेन्द्र धर्म भी पाया और तत्त्व-स्वरूप भी समझा है ? तो फिर हम क्यों उससे पराङ्मुख हैं ? वीतराग-प्रवचन में मानव को महान् शक्ति का स्वामी, देवों का प्रिय तथा देवों का वन्दनीय भी कहा गया है।

"देवा वि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो"

रे मानव ? देख यह कथन हम जैसे व्यक्ति का नहीं, किन्तु जिसने अपनी आत्मशक्ति के आधार पर ही अवलम्बित होकर आत्मविकास किया है, उस सर्वज्ञ सर्वदर्शी वीतराग का है। 'वीतरागप्रवचन' में कहा गया है कि मानव यदि प्रयत्न करता है, तो वह धन, पुत्र तो क्या केवलज्ञान भी प्राप्त कर सकता है। स्वर्ग के सुखों में आकण्ठ डूबे हुए, अविरति-भोगासक्त देव-देवी कुछ भी प्रदान करने में समर्थ नहीं हैं। तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि भी तो मनुष्य ही थे, उन्होंने कभी किसी की ओर आशा रखकर देखा हो, ऐसा हुआ ही नहीं। श्रीपाल जी ने कब सिद्धचक्र को छोड़कर अन्य की आराधना की थी ? नवपदाराधन से ही उनके सब कार्य सिद्ध हुए थे। विमलेश्वर देव स्वत: ही उनकी सेवा के लिए आया था। वे भी तो मानव थे और हम भी मानव हैं। मानव के द्वारा अमानवीय कार्य होना स्वयं के हाथों स्वयं का अपमान है। प्रश्न हो सकता है कि देवी-देवता हमारे विघ्नों को दूर करते हैं। अत: हम उनकी आराधना करते हैं। समाधान भी तैयार है। अच्छा भाई, माना कि वे हमारे विघ्नों को दूर करते हैं, अत: हम उनकी आराधना करते हैं। इसके साथ यह भी तो सर्वसत्य है कि - कहीं फूलों की और कहीं कंकु की बरसात हो, तो आराधकों के मत से ये देवी-देवता आ जाते हैं, परन्तु जब परधर्मी लोग धर्म के जूनून से उन्मत्त होकर उपासकों पर हमला करते हैं, उनका धन लूटते हैं, मंदिर और मूर्तियों के टुकड़े करते हैं और उनके सामने ही उनकी माँ-बहनों की इज्जत पर हाथ डालते हैं। उन आतताइयों को शिक्षा देने के लिए ये देवी-देवता क्यों नहीं आते ? न जाने किस गह्वर में घुस जाते हैं, जब उनकी जीवनपर्यन्त सेवा करने वालों पर हमला होता है। समझ में नहीं आता, अनन्त शक्ति का भंडार मानव इस भ्रांत धारणा के प्रवाह में कैसे बह जाता है ? भ्रम से भूले लोग कहते हैं - "जीवन को प्रगतिशील बनाने के लिए यंत्र-मंत्र और तंत्र एक महत्त्वपूर्ण आलम्बन है और हमारे पूर्वाचार्यों ने अमुक-अमुक राजाओं को देवी-देवताओं की आराधना के बल पर जैन बना दिया, मंत्रीश्वर विमल शाह ने अम्बिका की आराधना करके संसार को आश्चर्यान्वित करने वाले आबू के प्रसिद्ध मन्दिरों का निर्माण करवा दिया।" ऐसी सब बातें वृथा हैं।

लोग स्वयं भूल करते हैं और उसे अपने पूर्वाचार्यों पर लादने का विफल प्रयास करते हैं। श्रीजम्बुकुमार ने किसका स्मरण करके प्रभव चोर को हतप्रभ किया था ? श्रीसिद्धसेन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिवाकरसूरि ने किस देव की आराधना करके श्रीपार्श्वनाथ भगवान् की प्रतिमा को प्रकट किया था ? श्री मानतुंगसूरीश्वर ने किसकी स्तुति करके शरीर की (४४) चवालीस बेड़ियों को तोड़ा था ? श्रीहीरविजय सूरि ने किसके प्रभाव से अकबर को प्रभावित किया था ? बालक नागकेतु ने कब धरणेन्द्र का स्मरण किया था ? बालक अमर कुमार ने किसका स्मरण कर अपने आपको मृत्यु के मुख से बचाया था ? श्रेष्ठिप्रवर सुदर्शन ने शूली पर किसका स्मरण किया था ? सती सुभद्रा ने किसका स्मरण करके चम्पा के द्वार खोले थे ?

इन सब प्रश्नों का उत्तर मात्र इतना ही है कि सबने किसी देवी अथवा देव की आराधना नहीं की थी, अपितु उन्होंने श्रीवीतराग का अवलम्बन लेकर श्रीनवकार मंत्र का आराधन किया अथवा अन्य प्रकार से वीतराग की आराधना की थी। हमारे पूर्वाचार्यों ने देवी-देवताओं के बल पर शासन प्रभावना नहीं की, किन्तु पूर्वाचार्य भगवन्तों ने अपनी विद्वत्ता एवं चारित्रिक बल के द्वारा ही शासन-प्रभावना की है। यदि आज भी श्रद्धापूर्वक वीतराग भगवान् का अवलम्बन लेकर श्रीनमस्कार मंत्र की आराधना की जाए, तो अवश्य ही इच्छित की प्राप्ति में किसी प्रकार का अवरोध नहीं आ सकता।

प्रश्न - आपने अन्य प्रत्यक्ष देवी-देवताओं की आराधना का निषेध कर सर्वज्ञ सर्वदर्शी वीतराग की ही उपासना को योग्य कहा, किन्तु वीतराग देव तो कृतकृत्य हो गए हैं। वे न तो भक्त अनुराग करते हैं और न शत्रु से द्वेष। ऐसे वीतराग की उपासना से हमको क्या लाभ प्राप्त होने की आशा है ? जो हम उनकी उपासना करें ?

उत्तर - वीतराग अवश्य ही राग-द्वेषजन्य प्रपंचों से पर हैं। तभी तो उनका नाम वीतराग है। वे न तो कुछ देते हैं और न भक्त से राग और शत्रु से द्वेष ही करते हैं, किन्तु श्रीवीतराग की उपासना करने से हम उपासकों को वीतरागत्व की प्राप्ति होती है, क्योंकि जैसे उपास्य की उपासना की जाती है, वैसा ही फल उपासक को प्राप्त होता है। उपास्य यदि क्रोध, मान, माया और लोभ से युक्त हो और उपासक उससे अपनी पर्युपासना के बदले में वीतरागत्व की प्राप्ति की आशा रखे, तो वह वृथा है। मनोवैज्ञानिक तथ्य भी है कि उपास्य जैसा हो, उसकी उपासना से उपासक भी वैसा ही हो जाना चाहिए। आचार्यप्रवर श्रीमानतुंग सूरि ने श्रीभक्तामरस्तोत्र के दसवें पद्य में इसी आशय को प्रकाशित किया है -

नात्यद्भुतं भुवनभूषण भूतनाथ, भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः।
तु तया भवन्ति भवतो ननु तेन किंवा, भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति ।।१०।।

हे जगद्भूषण, हे प्राणियों के स्वामी भगवान् ? आपके सत्य और महान् गुणों की स्तुति करने वाले मनुष्य आपके ही समान हो जाते हैं। इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है, क्योंकि यदि कोई स्वामी अपने उपासक को अपने समान नहीं बना लेता तो उसके स्वामीपन से क्या लाभ ? अर्थात् कुछ नहीं।

हाँ तो अन्य देवी-देवता सकामी सक्रोधी लोभी एवं राग-द्वेष से युक्त हैं और वीतराग इनसे रहित। अन्य देवी-देवताओं की उपासना से हमको वही प्राप्त होगा, जो उनमें है यानी काम-क्रोध, लोभ, राग-द्वेषादि ही प्राप्त होंगे और वीतराग की उपासना से उपासक काम-क्रोध, माना-माया और राग द्वेषादि से दूर होकर वीतरागत्व को प्राप्त करके स्वयं भी वीतराग बन जाएगा। मुनिप्रवर श्रीयशोविजयी ने भी कहा है -

इलिका भ्रमरीध्यानात्, भ्रमरीत्वं यथा श्रुते ।
तथा ध्यायन् परमात्मानं, परमात्मत्वमाप्नुयात् ।।

भँवरी का निरंतर ध्यान करने से जिस प्रकार इलिकाएँ भ्रमरीत्व को प्राप्त होती हैं, उसी प्रकार परमात्मा (वीतराग) का निरंतर ध्यान करने से आत्मा भी परमात्मा बन जाती है।

वीतराग की सम्यक् उपासना करने से जब हमारी आत्मा वीतरागत्व को भी प्राप्त कर लेती है, तो अन्य सामान्य वस्तुओं का प्राप्त होना कोई आश्चर्य का कारण नहीं है। अतः सब प्रपंचों का त्याग कर श्रीवीतराग की उपासना के बीजभूत सकलागम-रहस्यभूत महामंत्राधिराज श्रीनमस्कार महामंत्र का निष्काम भक्ति से स्मरण करना ही हमारे लिए लाभप्रद है।

अन्त में, निबंध में यदि कुछ भी अयुक्त लिखा गया हो, तो उसके लिए त्रिकरण-त्रियोग-से मिथ्या दुष्कृत्य की चाहना करते हुए वाचकों से निवेदन है कि अपने हाथों अपनी शक्ति और समय का वृथा साधनाओं में व्यय न करते हुए सत्य की निष्पक्ष भाव से गवेषणा करके तथा उसको सत्य मान कर आत्मसाधना के मार्ग में आगे बढ़ें यही आशा है। इत्यलम् विस्तरेण।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ

१. अभिधानराजेन्द्रकोश, भाग २, पृष्ठ १०५०

२. अभिधानराजेन्द्रकोश, भाग ४, पृष्ठ १८३५

३. 'अर्ह्' धातु से वर्तमानकालीन कर्ता अर्थ में शतृ प्रत्यय लगाने से संस्कृत-व्याकरणानुसार 'अर्हत्' शब्द इस प्रकार बनता है : अर्ह + शतृ । 'लशक्वतद्धिते' १।३।८ सूत्र के शतृ के श की इत् संज्ञा और 'तस्यलोपः' १।३।९ सूत्र से शकार का लोप हुआ। तब अर्ह् + अतृ रहा । यहाँ 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' १।३।२ सूत्र से ऋकार की इत् संज्ञा और 'तस्यलोपः' सूत्र से ऋकार का लोप होने पर 'अर्ह् + अत् रहा। 'अज्झीनं परेण संयोज्यम्' न्याय से सबका सम्मेलन करने पर'अर्हत्' यह रूप सिद्ध होता है।

'अर्हत्' का प्राकृतरूप 'अरिहंताणं' इस प्रकार बनता है :

अर्हत् शब्द को 'उच्चार्हति' ८।२।१११ सूत्र से हकार से पूर्व 'इत्' हुआ तब अर्इहत्' बना, रेफ में इकार को मिलाने पर अरिहत् बना। उगिदचांसर्वनामस्थाने धातोः ७।१।७० (पाणिनि के) सूत्र से नुम् होकर अनुबंध का लोप होने पर 'अरिहन्त' रहा। 'ङ ञ णनो व्यञ्जने' ।८।१।२५। सूत्र से नकार का अनुस्वार और प्राकृत में स्वररहित व्यञ्जन नहीं रहता। अतः अन्त्य हल् तकार में अकार आया, तब बना अरिहंत।

'शक्तार्तवषड्नमः स्वस्तिस्वाहास्वधामिः' २।२।२५ सूत्र से नमः के योग में चतुर्थी विभक्ति होती है। अतः यहाँ भी नमः के योग में चतुर्थी बहुवचन का प्रत्यय भ्यस् आया, तब अरिहंत + भ्यस् बना। 'चतुर्थ्याः षष्ठीः' ८।३।१३१ सूत्र से षष्ठी बहुवचन का प्रत्यय आम् आया। तब अरिहंत + आम् बना। 'जस्शस्ङसित्तोदो द्वामि दीर्घः ८।३।१२ सूत्र से अजन्ताङ्ग को दीर्घ हुआ। 'टा आमोर्णः' ८।३।६ सूत्र से आम् के आ का ण तथा 'मोऽनुस्वारः ।८।१।२३। सूत्र से मकार का अनुस्वार होने पर अरिहंताणं यह रूप सिद्ध हुआ।

४-५. तेषामेव स्वस्वभाषापरिणाममनोहरम् ।
अप्येकरूपं वचनं, यत्ते धर्मावबोधकृत् ।।३।।
साऽग्रेपि योजनशते, पूर्वोत्पन्ना गदाम्बुदाः ।
यदञ्जसा विलीयन्ते, त्वद्विहारानिलोर्मिभिः ।।४।।
(वीतरागस्तोत्र, तृतीयप्रकाश)

६. कम समझ वाले लोग यह पूछ बैठते हैं कि - ''भगवान् के मांस और रक्त किस प्रकार से सफेद हो सकते हैं ? यह तो भगवान् की महत्ता का वैशिष्ट्य दिखलाने के लिए उक्ति मात्र है। इसमें कोई तथ्यांश दिखाई ही नहीं देता।'' इसका समाधान है कि - परमकरुणामूर्ति भगवान के रक्त और मांस का सफेद होना कोई आश्चर्य एवं उनका वैशिष्ट्य सिद्ध करने के लिए कही गई उक्ति मात्र नहीं है। जैनशासन में जो वस्तु जैसी है, वैसी ही कही गई है। अस्तु हम देखते हैं कि जिस प्रकार एक माता का वात्सल्य अपने पुत्र पर होने से पुत्र बहुत वर्षों के पश्चात् जब माता के पास आकर उसे नमस्कार करता है, तब स्नेह के वश माता के स्तनों से दूध झरता है अथवा स्तनों में दूध आता है। यदि उसी माता के सामने अन्य के पुत्र को लाया जाता तो उसके स्तनों में कदापि दूध न तो आयेगा ही और न झरेगा ही। उसी प्रकार जिनकी आत्मा में सारे जगत् के जीवों के लिए इस प्रकार वात्सल्य का सागर लहराता हो, मानो समुद्र में जल। तो भला सोचिए क्यों न, उनके शरीर का रक्त और मांस दुग्धवत् श्वेत होगा ? अवश्य होगा। इसमें संदेह को लेशमात्र भी स्थान नहीं है।

७. अभिधानराजेन्द्रकोश, तृतीय, भाग, पृ. ३४१

८. अभिधानराजेन्द्रकोश, प्रथम भाग, पृ. ७६१

९. अभिधानराजेन्द्रकोश, चौथा भाग, पृ. १४५९।

१०. सिध् धातु से निष्ठा ३।२।१०२। सूत्र से क्त प्रत्यय आने पर सिंध् + क्त बना। लशक्वतद्धिते ।१।६।८। सूत्र से ककार की इत् संज्ञा तथा तस्य लोपः सूत्र से ककार का लोप होने पर सिध + त रहा। झषस्तथोर्धोर्धः ।८।२।४०। सूत्र से तकार का धकार तथा झलां जश् झशि ८।४।५३ सूत्र से शक्तार्थवषड् नमः स्वस्तिस्वाहास्वाधाभिः ।२।२।२५। सूत्र से नमः के योग में चतुर्थी विभक्ति होती है। अतः चतुर्थी का भ्यस् प्रत्यय आया और चतुर्थ्याः षष्ठी ८।३।१३१ से भ्यस् के स्थान पर आम् आया सिद्ध + आम जस्शस्ङसित्तोदो द्वामि दीर्घः ८।३।१२ सूत्र से अजन्तांग को दीर्घ तथा टा आमोर्णः सूत्र से अकार का णकार तथा मोऽनुस्वारः ।८।१।२३। से मकार का अनुस्वार होने पर सिद्धाणं बनता है।

११. **१. आयरियाणं (आचार्येभ्यः)**

चर् धातु से आङ् उपसर्ग लगने पर आङ् + चर् बना। लशक्वताद्धिते सूत्र से ङ् की इत् संज्ञा और 'तस्यलोपः' सत्रसे ङ् का लोप आ + चर् बना। 'ऋहलोर्ण्यत्' ३।१।२२४ सूत्र से ण्यत् प्रत्यय हुआ आचर् + ण्यत् बना। 'चुटू' १।३।७ से ण् की इत् संज्ञा तथा त् की ''हलन्त्यतम्'' ७।२।११६ सूत्र से वृद्धि होने पर तथा सबका सम्मेलन करने पर 'जलतुम्बिकान्यायेन रेफस्योर्ध्वगमनम्' न्याय से रेफ् का ऊर्ध्वगमन होने पर सिद्ध रूप आचार्य बनता है।

''स्याद् भव्यचैत्यचौर्यसमेषु यात्'' ८।२।१ ०७ सूत्र से यकार से पूर्व इत् का आगम तथा अनुबन्ध का लोप होने पर इको रेफ् में मिलाने से आचारिय बना। ''क-ग-च-ज-त-द पयवां प्रायो लुक्'' ८।१।१७७ सूत्र शे चकारका लोप ''आचार्येचोच्च'' ८।१।७३ सूत्र से आ के लोप होने पर शेष रहे आ के स्थान पर अत्। अवर्णोयः श्रति ८।१।१८० सूत्र से अ के स्थान पर यकार होनें पर आयरिय बनता है। फिर नमः के योग में 'शक्तार्थबषड् नमः स्वस्ति स्वाता स्वधामिः २।२।२५। सूत्र से चतुर्थी का भ्यस् आया और चतुर्थ्याः षष्ठीः सूत्र से भ्यस् के स्थान पर आम् आया आयरिय + आम् हुआ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जस-शस्-ङसित्तो-दो-द्वानि दीर्घः। सूत्र से अजन्तांग को दीर्घ। टा आमोर्णः सूत्र से आम् के आ का ण और मोऽनुस्वारः से मकार का अनुस्वार होने पर आयरियाणं सिद्ध होता है।

१२. उवज्झायाणं (उपाध्यायेभ्यः) सभीपाथीं उप और अधि पूर्व में है जिसके ऐसे इङ् (अध्ययने धातोः) धातु से धञ् प्रत्यय होने पर उप + अधि + इ + घञ् बना। उप + अधि में अकः सवर्णे दीर्घः ६।१।१०१ सूत्र से पूर्व-पर के स्थान में दीर्घादेश होने पर उपाधि + इ + धञ् बना। धञ् की लशक्वतद्धिते सूत्र से इत् संज्ञा व ञ् की हलन्त्यम् सूत्र से इत्संज्ञा और तस्यलोपः सूत्र से लोप हुआ। तब उपाधि + इ + अ रहा। अचोञ्णिति ७।२।११५ सूत्र से अजतांग को वृद्धि। उपाधि + ह + अ बना। इको यणचि सूत्र से यण्। उपाध्यै + अ। एचोऽयवायावः ६।१।७८ सूत्र से ऐ के स्थान पर आय् हुआ आ मिला ध्य् में य मिला धञ् के शेष रहे अ में तब बना उपाध्याय। उपाध्याय का उवज्झायाणं इस प्रकार बनता है -

पोवः ८।१।२३१ सूत्र से पकार का बकार हुआ। साध्यसध्यह्यां झः ८।२।२६ सूत्र से ध्या के स्थान पर ज्झा हुआ तब उवज्झाय बना। उवज्झाय से नमः के योग से शक्तार्थवषड नमः स्वस्तिस्वाहा-स्वधामिः २।२।२५ सूत्र से चतुर्थी का भ्यस् का भ्यस् प्रत्यय आया। चतुर्थ्याः षष्ठीः। सूत्र से भ्यस् के स्थान पर आम् आया। उवज्झाय + आम् जस्-शस-ङसि-त्तो-दो-द्वामि दीर्घः। सूत्र से अजन्तांग को दीर्घ हुआ 'टा आमोर्णः' सत्र से आम् के आकार का ण और अन्त्य मकार का मोऽनुस्वार ८।१।२३ से अनुस्वार होने पर उवज्झायाणं बनता है।

१३. 'नमो लोए सव्व साहूणं' लोक शब्द से सप्तमी एकवचन का प्रत्यय ङि आया। लोक + ङि बना। लशक्वतद्धिते सूत्र से ङ् की इत्संज्ञा और तस्यलोपः सूत्र से लोप होने पर लोक + इ रहा। तब आद्गुणः ६।१।८६ सूत्र से पूर्व-पर के स्थान में गुणादेश होने पर लोके बना। फिर कगचजतदपयवां प्रायो लुक् ८।१।१७७ सूत्र से ककार का लोप होने पर लोए यह प्राकृत रूप बना।

सर्व शब्द से प्रथमा बहुवचन का प्रत्यय जस् आया जसः शी ७।१।१७ सूत्र से जस् के स्थान पर शी हुआ। शकार की लशक्वतद्धिते सूत्र से इत् संज्ञा और तस्यलोपः सूत्र से शकार का लोप होने से सर्व + इ रहा। आद्गुणः सूत्र से पूर्व-पर के स्थान पर ए गुणादेश होने पर सर्वे बना। उसको सर्वत्र लव रामचन्द्रे ८।२।७९ सूत्र से रेफ् का लोप तथा वकार का द्वित्व होने से सव्व सिद्ध होता है।

साध् संसिध्धौ धातु से कृदन्त के क्रियादिभ्यो उण् सूत्र से उण् प्रत्यय आया, तब साधु + उण् बना । वुदू ।१।३।७। सूत्र से ण् की इत् संज्ञा होकर तस्यलोपः सूत्र से लोप होने पर पूर्व-पर को मिलाने पर साधु सिद्ध होता है।

साधु का खघथघभाम् ।८।१।१८७। सूत्र से धकार के स्थान पर हकार हुआ तब साहु बना। साहु शब्द के शक्तार्थ वषड्नमः स्वस्तिस्वाहास्वधाभिः सूत्र से नमः के योग में चतुर्थी बहुवचन का प्रत्यय भ्यस् आया। चतुर्थ्याः षष्ठी सूत्र से भ्यस् के स्थान पर आम् आया। तब साहु + आम्। जस्-शस्-ङसित्तोदोद्वामि दीर्घः सूत्र से अजन्तांग को दीर्घ। टा आमोणः सूत्र से आम् के आकार का ण हुआ और मोऽनुस्वारः सूत्र से अन्त्य हल् मकार का अनुस्वार हुआ, तब बना साहूणं। सब को क्रमशः लिखा, तब बना णमो लोए सव्व साहूणं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org